

बलात्कार और यौन हिंसा की जड़ें हमारी समाज व्यवस्था में हैं

भारतीय समाज की एक गम्भीर समस्या को सतह पर लाकर, देश के जनमानस में उथल-पुथल बेचैनी और विशोभ जगाकर वर्ष 2012 विदा हो गया।

16 दिसम्बर की रात दिल्ली के एक भीड़-भाड़ वाले इलाके में 23 वर्षीय पारामेडिकल छात्रा के साथ चलती बस में 6 नरपिशाचों ने गिरोहबंद बलात्कार किया। क्रूरता की सारी हदें पार करते हुए उन दरिदों ने उस लड़की और उसके पुरुष साथी के शरीर को क्षत-विक्षत कर चलती बस से बाहर फेंक दिया। उस बहादुर लड़की और उसके साथी ने समर्पण करने के बजाय अपनी जान पर खेलकर उनका मुकाबला किया। 13 दिनों तक वह दिल्ली से लेकर सिंगापुर तक के अस्पतालों में मौत से जुझती रही। आखिरकार वह इस बर्बर, हिंसक और स्त्रीहंता समाज को छोड़कर चली गयी। आज हमारे सामने सबसे अहम सवाल यही है कि क्या हमारा समाज औरतों के रहने लायक है?

महिलाओं के साथ लैंगिक हिंसा, क्रूरता और बलात्कार की यह अकेली घटना नहीं है। पिछले साल देश भर में महिला उत्पीड़न के 2,28,000 मामले और बलात्कार के 24,000 से भी अधिक मामले दर्ज हुए, जबकि लाखों वारदात आतताइयों के आतंक या परिवार की मान-मर्यादा या पुलिस की उपेक्षा के कारण दबा दी गयी। दलित, आदिवासी, अल्पसंख्यक और मेहनतकश गरीब महिलाओं के खिलाफ यौन हिंसा और बलात्कार की घटनायें लगातार जारी हैं और दिनोंदिन बढ़ती ही जा रही हैं। कश्मीर, उत्तर-पूर्व और उग्रवाद प्रभावित अन्य इलाकों में सशस्त्र बलों द्वारा महिलाओं के साथ क्रूरता और बलात्कार की घटनाएँ लगातार चर्चा में रही हैं। पुलिस हिरासत में बलात्कार की घटनाएँ भी अक्सर सामने आती रही हैं। जिस दौरान छात्रा के साथ गिरोहबंद बलात्कार के खिलाफ दिल्ली और देश के कई दूसरे शहरों में आंदोलन जारी था, उसी बीच दिल्ली सहित देश के विभिन्न हिस्सों से लगातार बलात्कार की खबरें आ रही थीं। बलात्कार के ऐसे नृशंस मामले भी सामने आये हैं जिनमें राजनीतिक पार्टियों के नेता, सरकारी अधिकारी

पुलिस और सेना के छोटे-बड़े अफसर, व्यापारी, फिल्मी कलाकार, प्रोफेसर, पत्रकार, साधु-सन्यासी, पंडे-पुरोहित, गैरसरकारी संगठनों के तथाकथित समाज सुधारक और यहाँ तक कि सगे-सम्बन्धी भी लिप्त पाये गये हैं।

इस घटना ने लोगों के मन में संचित हो रहे गुस्से की आग को धधका दिया। राजधानी दिल्ली सहित देश के विभिन्न हिस्सों में लोग विरोध प्रदर्शन के लिए सड़कों पर उतर आये। दिल्ली के इंडिया गेट पर मोमबत्ती जलाकर शांतिपूर्वक विरोध से शुरू हुआ छात्र-छात्राओं का स्वतःस्फूर्त आंदोलन पुलिस बैरिकेड तोड़ता हुआ रायसीना हिल्स स्थित राष्ट्रपति भवन की सीढ़ियों तक पहुँच गया। कड़कड़ाती ठण्ड में पानी की बौछार, आँसू गैस के गोले और पुलिस की लाठियों का मुकाबला करते हुए नौजवान लड़के-लड़कियों ने विरोध प्रदर्शन जारी रखा। अंततः पुलिस ने जोर-जबरदस्ती से इंडिया गेट का इलाका खाली करवाया, आस-पास के सभी मेट्रो स्टेशन कई दिनों के लिए बन्द कर दिये गये और पूरे इलाके की नाकेबंदी करके उसे पुलिस छावनी में बदल दिया गया। फिर भी यह आंदोलन अलग-अलग रूपों में चलता रहा और आज भी जारी है।

इस बर्बर कुकृत्य से उत्पन्न जनक्रोध की तुलना 1970 के दशक में 'मथुरा बलात्कार कांड' के बाद देश भर में फैले महिला आंदोलन से की जा सकती है, जिसने हमारे देश में नारी मुक्ति आंदोलन को नयी ऊँचाईयों तक पहुँचाने में अहम भूमिका निभायी थी। लेकिन ऐसा पहली बार हुआ है कि महिला उत्पीड़न के सवाल पर लोग इतने मुखर रूप में राजधानी दिल्ली सहित देश के कई शहरों में खुद-ब-खुद सड़कों पर उतर आये। हर उम्र की महिलाओं ने इस विरोध प्रदर्शन में बढ़-चढ़ कर हिस्सा लिया और आज भी शहरों-कस्बों और गली-मुहल्लों में अपनी पहल पर छोटे-मोटे जुलूसों-प्रदर्शनों का सिलसिला जारी है। जाहिर है कि तमाम महिलाओं ने अपनी जिन्दगी में लगातार हो रहे अपमान और उत्पीड़न के दंश को बलात्कार की शिकार इस छात्रा के साथ जोड़ते हुए महसूस किया। बलात्कारियों को फाँसी देने, नपुंसक बनाने, कठोरतम सजा देने और बलात्कार

के खिलाफ कड़े कानून बनाने की माँग उठ रही है। वर्षों ही नहीं, सदियों से संचित गुस्से का लावा जब फूट कर बह निकलता है तो कोई भी समूह ऐसे ही उद्गार व्यक्त करता है।

नौजवानों के स्वाभाविक आक्रोश के प्रति हमारे शासकों का रवैया अहंकारी और उपेक्षापूर्ण रहा है। सत्ताधारियों की तो बात ही क्या, कुछेक वामपंथी पार्टियों को छोड़कर किसी भी प्रमुख पार्टी का कोई प्रतिनिधि आंदोलनकारियों से मिलने, उनका समर्थन करने या उनकी बात सुनने नहीं आया। इस घटना ने एक बार फिर साबित किया कि संसद के भीतर पक्ष-विपक्ष का बंटवारा अब खत्म हो गया है। बुनियादी आर्थिक-राजनीतिक प्रश्नों पर लगभग सभी पार्टियों की आम सहमति है। देशी-विदेशी पूँजी की रक्षा और जनता के शोषण-उत्पीड़न के मुद्दे पर उनमें कोई मतभेद नहीं। अगर कोई मतभेद है तो बस यही कि जनता को कैसे भरमाया जाय। संसद में बैठने वाला कोई भी नेता अब जनता की समस्याओं को उठाने और लड़ने वाला नहीं। विपक्ष के इस अभाव ने सरकार और शासन-प्रशासन की निरंकुशता, हृदयहीनता और क्रूरता को बढ़ाया है। यही कारण है कि केन्द्र और राज्यों में चाहे किसी भी पार्टी की सरकार हो, वे हर लोकतांत्रिक आवाज और शांतिपूर्ण विरोध का बर्बरतापूर्वक दमन करने और जन आंदोलनों को कुचलने पर आमादा है। देशभर में जनता की जायज माँगों और आन्दोलनों के खिलाफ लगातार जैसी दमनात्मक कार्रवाई खुले और नग्न रूप में हो रही है, उसे ही दिल्ली में भी थोड़े परिष्कृत रूप में दुहराया गया। गिरोहबंद बलात्कार की ताजा घटना के खिलाफ छात्र-छात्राओं के स्वतःस्फूर्त शांतिपूर्ण प्रदर्शन को दबाने के लिए पहले बल प्रयोग करना और बाद में एक पुलिस कर्मी की संदिग्ध मौत का बहाना बना कर निरंकुश तरीके से आंदोलन को तोड़ने का प्रयास इसी बात का जीता-जागता प्रमाण है।

किसी भी सभ्य, आधुनिक और लोकतांत्रिक कहे जाने वाले देश में यदि गिरोहबंद बलात्कार जैसी इक्की-दुक्की नृशंसता भी घटित हो, तो वहाँ के जनमानस को व्यथित और व्याकुल कर देने के लिए काफी है। ऐसे में उस समाज के चिंतकों-विचारकों को चाहिए कि उसकी अंतरधारा की तलाश में लग जायें और यह जानने का प्रयास करें कि इसकी जमीन क्या है, इसकी जड़ें कितनी गहरी और विस्तृत हैं, कौन-सी विचारधारा इस विषयवृक्ष का पालन-पोषण करती है। उसे पल्लवित-पुष्पित और फलीभूत करती है। लोकतंत्र में थोड़ा भी दम हो तो एक के बाद एक लगातार ऐसी घटनाएँ सामने आने

के बावजूद क्या कोई सरकार एक हफ्ते भी टिकी रह सकती है? लेकिन हमारे 'लोकतंत्र' में सब सम्भव है। भला क्यों न हो, यहाँ बलात्कार के आरोपी न केवल अच्छी-खासी संख्या में प्रमुख राजनीतिक पार्टियों के टिकट पर चुनाव लड़ते हों, बल्कि विजय गर्व से संसद और विधान सभा की शोभा भी बढ़ाते हों।

इसमें कोई संदेह नहीं कि कड़े कानून बनाने और सख्ती से उन्हें लागू करने से ऐसे जघन्य अपराधियों में एक हद तक भय पैदा होता है लेकिन बलात्कार महज कानून-व्यवस्था का मामला नहीं है कठोर कानून के जरिये किसी ऐसी समस्या का निर्णायक समाधान सम्भव नहीं, जिसकी जड़ें समाज-व्यवस्था और जनमानस में गहराई तक धँसी हों। हाँ, कानून बनाकर सरकार यह भ्रम जरूर पैदा करती है कि वह कुछ कर रही है, जबकि वास्तव में वह कुछ भी नहीं करती। कानून किताबों में बंद रहते हैं, हमारी जिंदगी पर उससे कोई फर्क नहीं पड़ता। महिला उत्पीड़न के खिलाफ घरेलू हिंसा, कार्यस्थल पर हिंसा और छेड़-छाड़ के खिलाफ कठोर कानून बनाये जाने के बावजूद उनमें कोई कमी नहीं आयी, उल्टे बढ़ोत्तरी ही हुई है। आज देश भर में महिलाओं के ऊपर यौन हमले, हिंसा और बलात्कार की घटनाएँ इतने बड़े पैमाने पर हो रही हैं कि इसे मानसिक रूप से बीमार कुछ एक अपराधियों का कुकृत्य भर नहीं माना जा सकता। भारतीय समाज औरतों के खिलाफ हिंसा और क्रूरता को अंजाम देने वाले अपराधियों को निरंतर पैदा कर रहा है, उनको पाल-पोस रहा है। इस विकट सामाजिक सांस्कृतिक संकट के कारणों की गहराई से पड़ताल करके ही उसके समाधान तक पहुँचा जा सकता है।

बलात्कार के खिलाफ कठोरतम सजा की माँग चाहे क्रुद्ध भीड़ से उठी हो या किसी व्यक्ति या संगठन की ओर से या फिर संसद में विभिन्न पार्टियों के नेताओं की ओर से, इसके पीछे एक सुनिश्चित विचारधारा है। यह विचारधारा समाज में महिलाओं को गैर-बराबरी, अपमान, उपेक्षा और निरंतर जारी हिंसा के सवाल को सतही तौर पर देखती है। यह महिलाओं की आजादी के सवाल को उनकी सुरक्षा के संकीर्ण दायरे में सीमित कर देना है। यह वही विचारधारा है जो महिलाओं पर पुरुषवादी वर्चस्व का समर्थन करती है। उनकी सुरक्षा पुरुषों की जिम्मेदारी मानती है। इस विचारधारा के समर्थकों का मानना है कि महिलाओं की असुरक्षा का प्रमुख कारण उनकी बढ़ती स्वतंत्रता और स्वछंदता है। इसीलिए वे महिलाओं को मर्यादा और अनुशासन का पाठ पढ़ाते हैं, उनके लिए हिदायतें जारी करते हैं और उन्हें सबक सिखाने के लिए अक्सर उन पर

संगठित हमले भी करते हैं।

गजब है कि जब औरते पिंजरे और सुरक्षा घेरे को तोड़ कर आजाद हवा में साँस लेने के लिए दृढ़संकल्प हैं और इसके लिये हर तरह की कठिनाई सहने को तैयार हैं, तब पुरुषसत्ता उन्हें बार-बार याद दिलाती है कि वे दुर्बल हैं, कि उनके लिए मर्दवादी सत्ता की सुरक्षा में रहना जरूरी है। रूढ़ीवादी समाज और धर्म ध्वजाधारी ही नहीं बल्कि तथाकथित लोकतांत्रिक संस्थाएँ भी महिलाओं को मर्यादा का पाठ पढ़ाने में पीछे नहीं हैं। पिछले दिनों इसी आशय के बयान महिला आयोग, महिला एवं बाल विकास विभाग, न्यायिक अधिकारी, वैज्ञानिक, सांसद-विधायक और मंत्रियों तक ने दिये हैं। दिल्ली गिरोहबंद बलात्कार को लेकर घडियाली आँसू बहाने वाले सत्ताधारियों के बयानों से साफ जाहिर होता है कि वे महिलाओं की आजादी नहीं चाहते, बल्कि उन्हें पितृसत्ता की अधीनता में सुरक्षित रखने के हिमायती हैं। ब्राह्मणवादी सवर्ण हिंदू ही नहीं, बसपा सांसद राजपाल सैनी ने भी बलात्कार के पीछे बदलती जीवन शैली को जिम्मेदार मानते हुए सलाह दी कि “औरतों और बच्चों को फोन देने की जरूरत नहीं है...हमारी माँ, बहन, बीवी, के पास फोन नहीं था।” बसपा के एक अन्य सांसद ने कहा कि “औरतों के भड़कीले लिबास जवान लड़कों को बलात्कार के लिए प्रेरित करते हैं।” मध्य-प्रदेश में एक मंत्री ने महिलाओं को पूरी तरह तन ढकने और अपनी इज्जत बचाने की सलाह दी और स्कूल-ड्रेस के रूप में स्कर्ट पहनने पर प्रतिबन्ध की माँग की। हिंदू राष्ट्र का सपना देखने वाले संगठन राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के प्रमुख मोहन भगवत ने कहा कि “बलात्कार इंडिया में होते हैं भारत में नहीं” और यह कि नैतिक मूल्यों के पतन के कारण महिलाओं के खिलाफ अपराध बढ़ रहा है।

महिला नेताओं के बयान भी पुरुषों से अलग नहीं थे। ममता बनर्जी ने बलात्कार की बढ़ती घटनाओं पर कहा कि “मीडिया जिस तरह बलात्कार की कहानी गढ़ रही है उससे बलात्कार के सही मामलों पर भी यकीन करना मुश्किल हो जायेगा।” भाजपा सांसद सुषमा स्वराज ने तो बलात्कार की शिकार महिलाओं को “जिन्दा लाश” ही कह दिया। मुख्यमंत्री शीला दीक्षित ने उन्हें “दुस्साहसी न बनने” की सलाह दी। मायावती की सोच भी बलात्कारियों को कठोर सजा देने से आगे नहीं गयी। छत्तीसगढ़ महिला आयोग की अध्यक्ष विभा राव ने कहा कि “महिलाओं के खिलाफ अपराध के लिए खुद महिलायें ही जिम्मेदार हैं, जो पश्चिमी सभ्यता अपनाकर पुरुषों को गलत सन्देश दे रही हैं।” विभिन्न धर्मों के ठेकेदारों ने भी इस घटना

के बहाने अपनी निकृष्ट स्त्री-विरोधी सोच का खुलकर इजहार किया। आशाराम बापू (कुछ साल पहले जिनके आश्रम के पास बच्चों के कंकाल बरामद हुए थे) ने दिल्ली बलात्कार की भुक्तभोगी, मौत को गले लगा चुकी छात्रा के ऊपर ही बलात्कार की जिम्मेदारी थोपते हुए कहा कि ताली एक हाथ से नहीं बजती। उनका सुझाव था कि उस छात्रा को उन्हें भाई कहकर दया की भीख माँगनी चाहिए थी। जमाते-इस्लामी के प्रधान ने सह-शिक्षा को बलात्कार के लिए जिम्मेदार ठहराते हुए इस पर रोक लगाने की माँग की। एक महिला वैज्ञानिक ने स्त्री सशक्तिकरण पर भाषण देते हुए कहा कि महिलाएँ ही पुरुष को उकसाती हैं। उनका कहना था कि दिल्ली की छात्रा अगर समर्पण कर देती तो कम से कम उसकी जान तो बच जाती। इस भयावह और आतंककारी घटना के बारे में इन बयानों ने आज महिलाओं को हिम्मत देने की जगह भयाक्रांत किया है और घर से बाहर निकलने वाली छात्राओं, और कामकाजी महिलाओं की सुरक्षा को लेकर भयबोध को बढ़ाया है। कुल मिलाकर ये सभी सोच पितृसत्ता के समर्थन में हैं और महिलाओं की आजादी को सीमित करने के हामी हैं।

पिछले कुछ दिनों में पितृसत्ता का समर्थन और महिलाओं की आजादी को सीमित करने वाले ऐसे ही ढेर सारे बयान जारी हुए। फिर वही खटराग कि महिलाओं के खिलाफ बढ़ती हिंसा और यौन-उत्पीड़न का प्रमुख कारण प्राचीन भारतीय संस्कृति का दूषित होना और लोगों का उससे विमुख होना है। आखिर यह प्राचीन संस्कृति है क्या? निश्चय ही यह सामंती संस्कृति थी। आज भी उस संस्कृति के अवशेष बड़े पैमाने पर बचे हुए हैं। पुरुष वर्चस्ववादी जब उसकी महिमा गाते हैं तो वे उसे ही बनाये रखने की हिमायत करते हैं। उस समाज में महिलाओं को इंसान ही नहीं समझा जाता था। नगर वधु, देवदासी, रखैल, तलवार के बल पर औरतों का अपहरण और जबरन शादी, औरत को जुए में दाँव पर लगाना और उपहार में दे देना, ये सब उस समाज की बहुप्रचलित और जड़ी-भूत परम्पराएँ थीं। औरत पूरी तरह पुरुषों के अधीन थी। दुनिया के सभी धर्म इस पराधीनता को उचित ठहराते आये हैं। उस दौर में महिला उत्पीड़न, यौन हिंसा और बलात्कार कोई मुद्दा ही नहीं था, औरतों की अस्मिता का कोई सवाल ही पैदा नहीं हुआ था। “जिमि स्वतन्त्र होई बिगरहीं नारी” और “ताड़न के अधिकारी” ही उस संस्कृति के आदर्श वाक्य थे।

पितृसत्ता और सामंती संस्कृति की पुनर्स्थापना का सपना देखने वाले लोग एक तरफ बलात्कारी को फाँसी देने, नपुंसक

बनाने और कठोरतम कानून की माँग करते हैं, तो दूसरी ओर बलात्कार की भुक्तभोगी महिलाओं की 'आबरू लुटने,' 'सब कुछ खत्म हो जाने' और 'जिन्दा लाश में बदल जाने' की बात करते हैं। संसद से सड़क तक और अखबार से टीवी चैनलों तक सुनाई देने वाली इस आवाज के पीछे वही पुरानी सामंती संस्कृति और सोच है जो औरतों की अस्मिता को नकारती है, उन्हें पुरुषसत्ता के अधीन और दोगम दर्जे का नागरिक समझती है। उन्हें पुरुषों की सम्पत्ति और खानदान की इज्जत मानती है और इसीलिए लूटने वालों को कठोरतम सजा देने की माँग की जाती है। प्रेम विवाह करने वाली लड़कियों की अपने ही परिजनों द्वारा इज्जत के नाम पर हत्या करने के पीछे भी यही सोच काम करती है। दूसरी ओर ऐसी सोच रखने वालों की निगाह में 'अस्मत्-आबरू लुटा चुकी' महिला 'जिन्दा लाश' हो जाती है, समाज में सम्मानपूर्वक जीने के काबिल नहीं रह जाती है, जबकि बलात्कारी की सामाजिक हैसियत या इज्जत पर इससे कोई आँच नहीं आती। परदे के पीछे इस 'इज्जत-आबरू' की धज्जियाँ उड़ती रहे, तो कोई फर्क नहीं पड़ता, लेकिन बात जब खुल जाती है तो संस्कृति का झंडा-डंडा उठाकर ऐसे लोग मैदान में उतर आते हैं।

यह सही है कि आज काफी संख्या में महिलाएँ अपनी पढ़ाई-लिखाई, रोजगार, पहनावा-ओढ़ावा और शादी करने या न करने जैसे अहम फैसले खुद ही लेने पर अडिग हैं और पुराने ढर्रे पर जीने से इंकार कर रही हैं। लेकिन यह लड़ाई अलग-अलग महिलाओं द्वारा अपने-अपने स्तर पर स्वतंत्र रूप से लड़ी जा रही हैं, जबकि उनका सामना हर जगह संगठित पुरुषसत्ता से है। महिलाएँ स्वाधीनता चाहती हैं और पुरुषसत्ता उनकी 'सुरक्षा की जिम्मेदारी' छोड़ने को तैयार नहीं।

आधुनिक इतिहास की शुरुआत के साथ, प्रारम्भिक पूँजीवाद ने पितृसत्ता और सामंतवाद पर चौतरफा हमला किया, उसके दार्शनिक-धार्मिक आधारों, मूल्य-मान्यताओं, विधि-निषेधों, आचार संहिताओं और रीती-रिवाजों को तर्क की कसौटी पर परखा और उसके खोखलेपन को उजागर किया। उस नए युग के राजनीतिक विचारकों और दार्शनिकों ने इंसान-इंसान के बीच की सभी दीवारों को ढा दिया, सभी विशेषाधिकारों के पीछे निहित स्वार्थ और झूठ-फरेब का पर्दाफाश किया और सबके लिए स्वतंत्रता, समानता और बंधुत्व का नारा बुलंद किया। महिलाओं की अस्मिता और समाज में उनकी स्वतंत्र पहचान कायम करने का प्रयास पुनर्जागरण, प्रबोधन और क्रान्ति के पूरे दौर में क्रमशः स्थापित हुआ। यूरोप से शुरू हुई स्वतंत्रता

और जनतंत्र की यह चेतना पूरी दुनिया में फैली, हालाँकि आगे चलकर खुद पूँजीपति जब सत्ताधारी वर्ग बन गया, तब उसने सभी तरह की स्वतंत्रताओं को मुक्त बाजार के अधीन कर लिया, पूँजी और मुद्रा की निरंकुश ताकत को जायज ठहराया और सभी मूल्यों को खरीदने-बेचने की वस्तु बना कर उन सबके ऊपर विनिमय मूल्य को स्थापित किया। आगे चलकर अपने चरम संकट और पराभव के दौर (साम्राज्यवादी दौर) में इसने स्वतंत्रता और जनतंत्र को रौंदने का काम किया, जो आज भी जारी है।

हमारे देश में लगभग दो सौ वर्षों के अंग्रेजी शासन के दौरान आधुनिकता के कुछ छींटे भारतीय समाज पर पड़े जरूर, लेकिन मुख्यतः सामंती संस्कृति और विचारधारा ही समाज की चालाक शक्ति बनी रही, क्योंकि खुद सामंत वर्ग और उनकी विचारधारा ब्रिटिश उपनिवेशवादियों के शोषण-उत्पीड़न में सहायक थे। स्वाधीनता आंदोलन के दौरान एक तरफ जहाँ उपनिवेशवादी-सामंती शोषण के खिलाफ संघर्ष लगातार जारी रहा, वहीं दूसरी ओर पितृसत्तात्मक मूल्यों, संस्कारों, विचारों और रीती-रिवाजों पर प्रहार करते हुए समग्रता में लोकतंत्र की लड़ाई नहीं लड़ी गयी। महिलाओं, दलितों, आदिवासियों और सामाजिक रूप से पिछड़े सभी तबकों की बराबरी और सामंती बेड़ियों से सम्पूर्ण आजादी का सवाल मुखर रूप से सामने नहीं आया। और तो और, विदेशी संस्कृति का विरोध करने के दौरान हिंदू पूनरुत्थानवादी धारा ने राष्ट्रीय संस्कृति के नाम पर अतीत की ओर वापसी का नारा दिया और पोंगापंथी विचारों को पुनर्स्थापित करने का अभियान चलाया। औपनिवेशिक-सामंती संस्कृति के खिलाफ एक प्रगतिशील आन्दोलन की शानदार शुरुआत हुई, लेकिन वह भी जन-जन तक अपनी छाप छोड़ पाने में असफल रही।

1947 में राजनीतिक सत्ता हासिल करने के बाद भारत के नए शासक पूँजीपति वर्ग ने अपने संकीर्ण स्वार्थों के चलते सामंतवाद के साथ समझौता किया। लोकतंत्र, सामाजिक न्याय, समानता और धर्मनिरपेक्षता जैसे शब्द केवल पवित्र किताबों में सिमटकर रह गये। मुठ्ठीभर संपत्तिशाली वर्गों को साथ लेकर जिस भारत का निर्माण शुरू हुआ था, उसमें एक विकलांग-विकृत पूँजीवाद का जन्म हुआ। अपनी सीमाओं के कारण यह सीमित विकास भी लंबे समय तक कायम नहीं रहा। 1980 के दशक के मध्य तक आते-आते भारतीय शासक वर्ग ने आत्मविश्वास खो दिया और आत्मनिर्भर विकास के आधे-अधूरे सपने को भी तिलांजलि देना तय कर लिया जो राजीव गाँधी

की खुले दरवाजे की नीति के रूप में सामने आया।

ठीक उसी दौरान, 1990 के आस-पास दुनिया के समीकरण और वर्ग शक्ति संतुलन में हुए बदलाव के चलते विश्व साम्राज्यवाद के सरगना अमरीका की बहुराष्ट्रीय वैश्विक महत्त्वकांक्षा के लिए अनुकूल वातावरण तैयार हो गया। 'वाशिंगटन आम सहमति' के तहत विश्व बैंक, मुद्रा कोष और आगे चलकर विश्व व्यापार संगठन के जरिये पूरी दुनिया को साम्राज्यवादी स्वार्थों के अनुरूप ढालने का प्रयास तेज हुआ। भारत सहित तीसरी दुनिया के शासकों को भी इस मुहिम में शत्रुसहयोगी (कोलैबरेटर) की भूमिका में ही अपना भविष्य दिखाई दिया। नयी आर्थिक विश्व व्यवस्था (वास्तव में आर्थिक नव-उपनिवेशवादी व्यवस्था) की स्थापना के लिए विकासशील देशों में निजीकरण-उदारीकरण की नीतियों को तेजी से लागू किया गया। अर्थव्यवस्था के सभी क्षेत्रों को विदेशी बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के लिए खोल दिया गया।

विदेशी पूँजी के साथ-साथ पतनशील विदेशी संस्कृति की काली आंधी ने भारतीय समाज को पूरी तरह जकड़ना शुरू किया। बाजारवाद और उपभोक्तावाद को बढ़ावा दिया गया। भोग-विलास, खुदगर्जी, अंधी प्रतियोगिता और मारामारी, चरम व्यक्तिवाद, यौन विकृति और सभी तरह की पाशविक प्रवृत्तियों को उभारा गया। अपने माल की बिक्री के लिए बहुराष्ट्रीय निगमों ने धुंआंधार विज्ञापनों के जरिये भारतीय जनमानस को पतनशील पूँजीवादी संस्कृति से ग्रसित किया। यह नयी पतित पूँजीवादी संस्कृति, भारतीय समाज में पहले से प्रभावी सामंती और विकृत पूँजीवादी संस्कृति के कोढ़ में खाज साबित हुई है।

वर्तमान भारतीय समाज और संस्कृति का पूरा ताना-बाना मूलतः स्त्री-विरोधी है। फिल्मों के कलाकार, आईटम साँग और गाने स्त्री-हिंसा से भरपूर हैं, जिनकी कामुकता ही कला का पैमाना है। रिअलिटी शो में द्विअर्थी संवाद और गंदे गानों पर नाचते छोटे-छोटे बच्चे, एक रैप गायक के गाने में बलात्कार का ग्राफिक चित्रण, खुद महिला फिल्मी कलाकारों द्वारा कामोत्तेजना भड़काने वाले "शीला," "मुन्नी," जैसे असंख्य गीत, इंटरनेट पर असंख्य अश्लील और कामुक वेब साईट, विज्ञापनों में भोग की वस्तु के रूप में महिलाओं का चित्रण, यह सब लगातार बलात्कारी मानसिकता पैदा करने में मदद पहुँचाते हैं। परिवार में पुत्र लालसा, स्त्री भ्रूण हत्या लालन-पालन में लड़की के प्रति उपेक्षा और भेदभाव यह सब बचपन से ही बेटों के मन में महिला विरोधी भावनाएँ आती हैं। इसके अलावा पाठ्य पुस्तकों में, खेलकूद में, तीज-त्यौहार में, भाषा और मुहावरों में,

हर जगह स्त्रीहंता मूल्यों की भरमार है जो बलात्कार की मानसिकता गढ़ते हैं।

आज जो लोग इस सांस्कृतिक पतन को लेकर हाय तौबा मचाते हैं, वे महिलाओं के हक में किसी उन्नत संस्कृति के हिमायती नहीं हैं। दरअसल वे प्राचीन भारतीय संस्कृति के दूषित होने का रोना रो रहे हैं और घोर स्त्रीविरोधी, सामंती-पितृसत्तात्मक संस्कृति ही उनका आदर्श है। पुनरुत्थानवादी ताकतों को अपना मनसूबा पूरा करने का एक नया मौका मिल गया। विदेशी संस्कृति के हमले से भारतीय संस्कृति की रक्षा के नाम पर वे सड़े-गले पितृसत्तात्मक, ब्राह्मणवादी, वर्णाश्रम आधारित, सामंती संस्कृति की स्थापना की मुहिम में जुट गये। आर्थिक नीतियों के मामले में साम्राज्यवादी विदेशी पूँजी के आगे घुटने टेक कर निजीकरण-उदारीकरण की नीतियों की पैरोकारी करने वाले इन नकली देशभक्तों को पश्चिमी पूँजीवाद के बाजारवादी लूट-खसोट से कोई शिकायत नहीं। शिकायत उस संस्कृति से है, जो बाजारवादी अर्थतंत्र का अनिवार्य अंग है और तमाम सीमाओं के बावजूद, सामंतवादी संस्कृति की तुलना में इसकी कुछ सकारात्मकताएँ भी हैं। भारतीय संस्कृति के स्वयंभू रक्षक खुद सुबह से रात तक, सर से पाँव तक विदेशी उपभोक्ता वस्तुओं में सराबोर रहते हैं, उसका भरपूर आनंद उठाते हैं, जबकि दूसरों को भारतीय संस्कृति का पाठ पढ़ाते हैं।

वर्तमान भारतीय समाज नाना प्रकार के विरोधाभाषों और विसंगतियों से भरपूर है। यहाँ एक ही साथ पूँजीवादी, साम्राज्यवादी, सामंती और यहाँ तक कि कबीलाई संस्कृति भी कायम है। यह वैसे ही है, जैसे राजधानी की सड़कों पर भैंसा-बुगी, ऊँट-गाड़ी, बैलगाड़ी, घोडा-तांगा, टेला, साइकिल, रिक्शा, ऑटो, ट्रैक्टर-ट्रॉली, और नये-नये मॉडल की मोटर गाडियाँ एक साथ चलती हुई दिखाई देती हैं। आधुनिक जीवनशैली, खान-पान और पहनावे के साथ-साथ अंधविश्वास और दकियानूसी भी मौजूद है, गण्डे-ताबीज-भभूत के साथ कम्प्यूटर और इलेक्ट्रॉनिक गैजेट का भी सहअस्तित्व है। जरूरी नहीं कि विज्ञान पढ़ाने और विज्ञान की उपलब्धियों से जीविका चलाने वालों का नजरिया भी वैज्ञानिक हो। महिलाएँ उच्च शिक्षा हासिल कर ऊँची नौकरी करें और ऊँचे-से-ऊँचे पदों पर महत्त्वपूर्ण जिम्मेदारियाँ निभाएँ, लेकिन घर में उनकी स्थिति दोगले दर्जे की ही रहेगी। इस विकट स्थिति का खामियाजा आजादी की आकांक्षा रखने वाली महिलाओं को ही सबसे अधिक भुगतना पड़ता है।

इसमें कोई दो राय नहीं कि 1990 के बाद अमरीकापरस्त

नयी आर्थिक नीतियों ने बहुसंख्य मेहनतकश महिलाओं की आर्थिक दुर्दशा को बढ़ाया और उन्हें असंगठित क्षेत्र में बहुत ही कम मजदूरी और खराब हालत में खटने को मजबूर किया। सामाजिक सेवाओं पर सरकारी खर्च में कटौती और निजीकरण का सबसे बुरा असर महिलाओं पर ही हुआ। रोजगार के नए क्षेत्रों में भी महिलाओं को सस्ता श्रम और आसानी से वश में किये जाने वाले मजदूर की हैसियत हासिल हुई। दूसरी ओर विदेशी पूँजी के साथ आने वाली साम्राज्यवादी संस्कृति ने महिलाओं को खरीद-बिक्री की वस्तु (कमोडिटी) और कामवासना का सामान (सेक्स ऑब्जेक्ट) में बदलने का काम किया।

दूसरी ओर, विदेशी पूँजी निवेश और सैकड़ों बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के आने से समाज के ऊपर के तबके के 20-25 फीसदी लोगों की जिंदगी में खुशहाली आयी है। मुनाफे की हवस में ही सही, देशी-विदेशी पूँजी प्रतिष्ठानों ने महिलाओं के लिए रोजगार के नए-नए अवसर प्रदान किये हैं, खास तौर पर मध्यम वर्गीय परिवारों की लड़कियाँ व्यावसायिक शिक्षा हासिल कर सूचना प्रौद्योगिकी, इलेक्ट्रॉनिक मीडिया, विज्ञापन, मार्केटिंग और विभिन्न कार्यालयों में काम कर रही हैं। हालाँकि 1990 के बाद देशी-विदेशी पूँजी के गठजोड़ से जो नयी सामाजिक संरचना अस्तित्व में आयी उसने भी महिलाओं की गुलामी और लैंगिक भेद-भाव के सवाल को हल करने के बजाय और अधिक बढ़ाया है। सामाजिक-आर्थिक गतिविधियों में हिस्सेदारी और आत्मनिर्भरता के साथ उनकी स्वतंत्रता की आकांक्षा बलवती है। उन्मुक्त और स्वच्छंद नवयुवतियाँ समाज में अपना सम्मानजनक स्थान बनाने के लिए संघर्षरत हैं जो बड़ी तादाद में बसों, मेट्रो रेल, बाजारों, कार्यालयों और सड़कों पर भागती-दौड़ती देखी जा सकती हैं। वे हर कीमत पर आर्थिक रूप से आत्म निर्भर होकर अपनी अस्मिता, अपनी सामाजिक पहचान की दावेदारी कर रही हैं। बराबरी और आजादी के मूल्यों पर आधारित उनकी यह पहचान, पितृसत्ता के जर्जर ढाँचे में माँ, बहू, बेटी या पत्नी की पारम्परिक पहचान से बिलकुल अलग और उसके विपरीत है। उनकी उन्मुक्तता और अस्मिता की दावेदारी दकियानूसी, सामंती, पितृसत्तात्मक, पुरुष अहंकार के लिए एक चुनौती है। परिवार से लेकर कार्यालय तक, सड़क से लेकर लोकतांत्रिक संस्थानों तक यह पुरुष वर्चस्ववादी चुनौती महिलाओं का पीछा कर रही है। महिलाओं की आजादी को संस्कृति, सभ्यता, परम्परा और धार्मिक मर्यादा के नाम पर खारिज करना, उनके खिलाफ फतवे, हिदायतें, आचार-संहिताएँ जारी करना और यहाँ तक कि स्वयंभू धर्मरक्षकों द्वारा हिंसक हमले करना, आये दिन

सामने आते हैं। एक सम्पूर्ण मानव के रूप में महिलाओं की यह नयी पहचान, उनकी अधिकार चेतना और स्वाधीनता बदलते वक्त की सच्चाई है, जिन्हें स्वीकार करना पारम्परिक पुरुषसत्ता के स्वार्थ के विपरीत है। दिनों-दिन खोते अपने मर्दवादी विशेषाधिकार को बचाने और वर्चस्व कायम रखने के लिए पुरुष प्रधानता के हिमायती अक्सर इन नयी सच्चाइयों को भारतीय संस्कृति का पतन मानते हुए चीख-पुकार मचाते रहते हैं।

निस्संदेह, बलात्कार एक जघन्यतम और नृशंसापूर्ण अपराध है, लेकिन इसे कानून-व्यवस्था तक सीमित करते हुए इसके खिलाफ फाँसी की माँग करना इसका कोई समाधान नहीं है। कई महिला संगठनों और प्रगतिशील, जनपक्षधर संगठनों में इसे महिलाओं के खिलाफ निरंतर जारी हिंसा के रूप में गहराई से समझने और इस समस्या का स्थायी समाधान तलाशने पर जोर दिया है। फाँसी की सजा अब तक उन अपराधों पर रोक लगाने में कारगर साबित नहीं हुई है जिनमें इसका प्रावधान है। यह अकारण नहीं कि फाँसी की सजा पाने वाले अधिकांश लोग गरीब होते हैं। जिनमें न्याय खरीदने की क्षमता होती है, वे बाइज्जत बरी हो जाते हैं। अगर बलात्कार के खिलाफ भी फाँसी का कानून बनता है तो बलात्कार के बाद हत्या की घटनाएँ बढ़ेंगी, क्योंकि दोनों जुर्मों में अधिकतम सजा फाँसी ही हो सकती है। जो लोग बलात्कार को इज्जत-आबरू और सब कुछ लुट जाने वाली, 'जिन्दा लाश' में बदल देने वाली नैतिकता के रूप में देखते हैं, उनको औरत का कत्ल हो जाना ही उचित लगेगा, क्योंकि इससे उसे अपमान की जिंदगी से छुटकारा मिल जायेगा। लेकिन जो लोग इसे यौन-आक्रमण, क्रूरता और लैंगिक हिंसा के रूप में देखते हैं। वे इसके लिए कठोर और सुनिश्चित न्याय की माँग करेंगे।

बलात्कार के बहाने कानून और अदालतों का मनमाना प्रयोग करने वाली राजसत्ता के हाथों में नागरिकों का कत्ल करने वाला एक और हथियार सौंपना कोई भी न्यायप्रिय और मानवतावादी व्यक्ति स्वीकार नहीं करेगा। यौन हिंसा और बलात्कार की 90 फीसदी घटनाएँ परिवार के सदस्यों, करीबी रिश्तेदारों या पूर्वपरिचितों द्वारा ही अंजाम दी जाती हैं। सजा की तो बात ही क्या, अधिकांश मामलों में प्राथमिकी भी दर्ज नहीं करायी जाती। फाँसी की सजा तय करने के बाद भला कोई महिला अपने कुटुम्बियों के खिलाफ मुकदमा दर्ज करके सजा दिलाने की बात कैसे सोच पायेगी? तब बलात्कारियों को सजा मिलने की दर और भी कम हो जायेगी। पति द्वारा पत्नी

के साथ जबरन सहवास और बलात्कार (जो भारत के कानून के मुताबिक वैध है) के लिए क्या फाँसी की सजा होगी? क्या उन सशस्त्र बलों को फाँसी होगी जिन्होंने मणिपुर की तंगजम मनोरमा, कश्मीर की निलोफर और आशिया तथा उग्रवाद प्रभावित राज्यों की असंख्य आदिवासी महिलाओं का बलात्कार किया, उनकी हत्या की और आज भी आये दिन ऐसी खबरें आती रहती हैं? महिलाओं और समाज के सभी शोषित-पीड़ित लोगों की मुक्ति की गारंटी कठोर से कठोर कानून बनाकर भी सम्भव नहीं। कानून हमेशा शासकों के हाथ का हथियार रहा है, जिसका इस्तेमाल वे अपनी राजसत्ता की हिफाजत के लिए करते हैं, जनता की सुरक्षा और मुक्ति के लिए नहीं। विडंबना यह है कि अपनी ही व्यवस्था की खामियों से उत्पन्न किसी कलुषित घटना से उत्पन्न जनक्रोध के बहाने राजसत्ता अपने लिए ऐसे बर्बर कानूनों के नए-नए हथियार जमा करती रहती है... गुंडा एक्ट, आतंकवाद विरोधी कानून और ऐसे ही दर्जनों कानून हैं, जिनका इस्तेमाल बड़े पैमाने पर सरकार-विरोधी आवाजों को दबाने और जनहित की लड़ाई लड़ने वालों का दमन करने के लिए होता रहा है।

बलात्कार उस सामाजिक परिवेश की अनिवार्य परिणति है जो लोकतंत्र के लबादे में घोर प्रतिक्रियावादी, स्त्रीविरोधी, दलित विरोधी, भेदभावपूर्ण और चरम शोषण-उत्पीड़न पर आधारित है। देशी-विदेशी पूँजी के गठजोड़ से निर्मित निहायत जनविरोधी, शोषण पर टिकी, बाजारवादीनवउदारवादी आर्थिक नीतियों और सामंती, पितृसत्तात्मक, पूँजीवादी-साम्राज्यवादी मूल्य मान्यताओं ने एक ऐसी सामाजिक संरचना निर्मित की है जो देश की बहुसंख्य जनता के लिए असहनीय है। महिलाओं के अपमान, असामनता, असुरक्षा और जन्म से मृत्यु तक उनके खिलाफ निरंतर जारी घृणा और हिंसा का स्रोत यही समाज व्यवस्था है। औरतों के लिए आत्मसम्मान, आत्मनिर्णय का अधिकार, उनकी आजादी और बराबरी का सवाल, उनकी अस्मिता का सवाल ही सबसे अहम सवाल हैं। उनकी लड़ाई की बुनियादी माँग यही होनी चाहिए। सुरक्षा के नाम पर इन बुनियादी सवालों को किनारे नहीं लगाया जा सकता। पिछले दिनों दिल्ली की नृशंस घटना के खिलाफ शुरू हुए जनांदोलन के दौरान यथास्थितिवाद और वैचारिक विभ्रम का जो माहौल तैयार हुआ, उस बीच कुछ प्रगतिशील महिला संगठनों और बुनियादी परिवर्तन में यकीन रखने वाले तमाम व्यक्तियों और संस्थाओं ने इन मुद्दों को मजबूती से रेखांकित किया और

महिला मुक्ति के प्रश्न को मजबूती से सामने लाने का प्रयास किया। यह सकारात्मक है।

आज भी कानूनी माँग और पूर्ति के खेल में उलझा कर असली गुनहगार को हमारी आँखों से ओझल करने का प्रयास जारी है। असली गुनहगार तो यह समाज व्यवस्था है जो महिलाओं के साथ बर्बर हिंसा और यौन उत्पीड़न करने वाले अपराधियों को लगातार पैदा करती है और उनको पालती-पोसती है। इस जर्जर सामाजिक ढाँचे में आमूल परिवर्तन के बिना महिलाओं (और साथ ही अन्य शोषित-पीड़ित तबकों और वर्गों) की आजादी और सम्मान की गारंटी नहीं की जा सकती। यह एक निर्विवाद सच्चाई है।

निश्चय ही इसे कहना जितना आसान है, करना उतना ही कठिन। लेकिन सबसे ताकतवर वह विचार होता है जिसका समय आ गया है। जो महिलाएँ इतनी प्रतिकूल परिस्थितियों में भी अपनी मुक्ति की राह पर चल पड़ी हैं, वे पुरुषसत्ता के तमाम हमलों और हिंसक प्रहारों के बावजूद कदम वापस लेने को तैयार नहीं हैं। अकेले-अकेले चलाये जा रहे महिलाओं के इस अभियान को गति प्रदान करने के लिए स्त्री-मुक्ति की चेतना, संगठन और पितृसत्ता की हर अभिव्यक्ति के खिलाफ प्रतिरोध संघर्ष जरूरी है। मुक्तिकामी जनता के संघर्षों का हिस्सा बनकर और उनके साथ कंधे से कंधा मिलाकर ही यह ऐतिहासिक मिशन सफल होगा। □

विश्वव्यापी आर्थिक मन्दी के पाँच वर्ष

-विक्रम प्रताप

दिसम्बर 2012 में प्रधानमंत्री मारियो मोन्टी के इस्तीफा देते ही इटली का शेयर बाजार लड़खड़ाकर गिर गया। विदेशी निवेशकों में भगदड़ मच गयी। इस घटना से इटली का आर्थिक संकट सतह पर आ गया। दरअसल इटली की अर्थव्यवस्था को मन्दी का घुन बहुत पहले लग चुका था। इटली एक सम्पन्न देश है। प्रति व्यक्ति आय के मामले में वह जर्मनी से आगे है। इसके पास 900 अरब यूरो की निजी सम्पत्ति है। दुनिया के सबसे धनी सात देशों के समूह में इसका बजट अधिशेष सबसे अधिक है। सार्वजनिक और निजी क्षेत्र को मिलाकर कुल कर्ज सकल घरेलू उत्पाद का 265 प्रतिशत है जो फ्रांस, हॉलैण्ड, इंग्लैण्ड, अमरीका और जापान से कम है। फिर भी विश्वव्यापी संकट से बच नहीं पाया।

विदेशी निवेशकों के प्रबल समर्थक मोन्टी ने सरकारी व्यय में भारी कटौती की। जिसके बुरे नतीजे अर्थव्यवस्था पर नजर आने लगे हैं। लोगों की क्रयशक्ति गिरने से उपभोक्ता वस्तुओं की माँग में कमी आ गयी जिससे एक साल में राष्ट्रीय उपभोग का स्तर 4.5 प्रतिशत गिर गया और औद्योगिक उत्पादन का गिरना लाजिमी हो गया। पिछले साल की तुलना में इस बार अक्टूबर में औद्योगिक उत्पादन में 6.2 प्रतिशत की गिरावट हुई। पिछली पाँच तिमाही से अर्थव्यवस्था लगातार सिकुड़ती जा रही है। युवाओं की बेरोजगारी दर बढ़कर 36.5 प्रतिशत पहुँच चुकी है।

इटली का संकट उस विश्व आर्थिक संकट की अगली कड़ी है जिसकी शुरुआत सन् 2008 में अमरीका के सबप्राइम संकट से हुई थी। इस संकट ने वैश्विक अर्थव्यवस्था में भारी तबाही मचायी थी। करोड़ों लोग इसकी चपेट में आकर बेरोजगार हो चुके हैं। अमरीका में उत्पादक अर्थव्यवस्था के ठहरावग्रस्त हो जाने पर मकानों के कारोबार को प्रोत्साहित करने के लिए बैंकों ने आसान दरों पर कर्ज दिया। बाजार का दायरा बढ़ाने के लिए मकान और उनके कर्ज पर सबप्राइम बन्धक पत्र के माध्यम से सट्टेबाजी शुरू की गयी। इसके माध्यम से अर्थव्यवस्था में जो नकली तेजी पैदा हुई उससे सट्टेबाजी का बुलबुला कई गुना फूल गया। लेकिन कमजोर कर्जदारों के ऋण

चुकाने में असमर्थ होते ही यह बुलबुला फूट गया। सबप्राइम बन्धक पत्र सट्टेबाजी में लगे बैंक लेहमन ब्रदर्स, फ्रैडीमैक, फ़ैनीमाए, सीटी बैंक, मोगन स्टैनले, बीयर स्टर्न और बीमा कम्पनी एआईजी बर्बाद होने लगी। इस आर्थिक विध्वंस ने न केवल अमरीकी अर्थव्यवस्था को झकझोर दिया बल्कि कई अन्य देशों को भी अपने चपेट में ले लिया। विश्वबैंक के अध्यक्ष ने सलाह दी कि इस मन्दी से बचने के लिए हमें कई कड़े निर्णय लेने पड़ेंगे। इसके तहत मन्दी से पीड़ित राष्ट्र ने संकटग्रस्त पूँजीपतियों को आँख मूँदकर बचाव पैकेज दिया। अमरीकी सरकार ने मन्दी की मार से बेहाल आम अमरीकी नागरिक के बजाय डूबते बैंकों और उनके मालिकों को बचाने के लिए अरबों डॉलर लुटा दिये। इससे आज वहाँ लोगों की धारणा पुष्ट होती जा रही है कि सरकार जनविरोधी है। वह “फायदा निजी और नुकसान सार्वजनिक” की नीति अपनाते हुए मुट्ठीभर वित्तीय सट्टेबाजों के हित में काम कर रही है।

पिछले चार सालों में वैश्विक मन्दी के दौरान अमरीका के सकल घरेलू उत्पाद में वृद्धि का 90 प्रतिशत हिस्सा उच्च आय वर्ग वाले एक प्रतिशत लोगों ने हासिल किया। रोजगार में तेज गिरावट के बावजूद वॉल स्ट्रीट से जुड़े सट्टेबाजों की कमाई में रिकार्ड बढ़ोत्तरी हुई। जबकि वहाँ के सामान्य लोगों की वास्तविक आय 2007 की तुलना में 8 प्रतिशत कम हुई है। इस दौरान कम से कम 40 लाख इकाईयाँ तालाबन्दी की शिकार हुईं। जिन्हें सरकारी सहायता के दम पर बचाया जा सकता था।

अमरीकी संकट अभी खत्म भी नहीं हुआ था कि 17 यूरोपीय देशों का समूह “यूरो क्षेत्र” सम्प्रभु कर्ज संकट में फँस गया। यूनान, स्पेन, इटली और अन्य देशों के ऊपर विदेशी कर्ज सकल घरेलू उत्पाद की सीमा से पार चला गया और ये देश दिवालिया होने के कगार पर पहुँच गये। विदेशी निवेशक शेयर बाजार से पैसा निकालकर भागने लगे, जिन्हें लुभाने के लिए सरकारी खर्च में कटौती करके उस पूँजी को शेयर बाजार में झोंक दिया गया। वास्तविक उत्पादक अर्थव्यवस्था पर इसका बुरा असर हुआ। वहाँ बेरोजगारी में अभूतपूर्व वृद्धि हो गयी और

लोगों की क्रयशक्ति गिर गयी। उद्योग धन्धे तबाह हो गये। पुर्तगाल, आयरलैण्ड और साइप्रस भी अब वित्तीय संकट का सामना कर रहे हैं। रेटिंग एजेंसियों ने इनकी साख गिरा दी। ये एजेंसियाँ कितना धिनौना काम कर रही हैं, इसका पता इसी बात से लगता है कि सबप्राइम बन्धक पत्र विध्वंस के समय जिन रेटिंग एजेंसियों ने मकानों पर सट्टेबाजी करने वाली कम्पनियों की साख गिरा दी थी, अब वे जी-जान से उनकी साख उठाने में लग गयी हैं। हाल ही में रेटिंग एजेंसी मूडी ने फ्रांस के दो बड़े बैंक- सोसिएट जनरल और क्रेडिट एग्रीकोल की साख गिरा दी। इससे घबराकर अमरीकी सट्टेबाजों ने यूरोप से अपना निवेश खींच लिया। निवेश घटने से डॉलर की कमी के चलते यूरो का मूल्य गिर गया। डॉलर की कमी को पूरा करने के लिए यूरोपीय केन्द्रीय बैंक ने न केवल चार देशों के केन्द्रीय बैंकों से हाथ मिला लिया बल्कि विदेशी सट्टेबाजों को लुभाने के लिए उनकी अपमानजनक शर्तों को भी स्वीकार कर लिया। यूरो क्षेत्र के सभी देशों ने इन शर्तों के चलते अपनी जनता की सुविधाओं जैसे- रोजगार, शिक्षा और स्वास्थ्य के खर्चों में कटौती की।

कटौती के कारण आज यूनान और स्पेन में क्रमशः 56 प्रतिशत और 54 प्रतिशत युवक बेरोजगार हैं जबकि यूनान की कुल बेरोजगारी दर 25 प्रतिशत तक पहुँच चुकी है। पिछले पाँच सालों की मन्दी से यूनान की अर्थव्यवस्था जर्जर हो चुकी है। यूनानी “यूरो क्षेत्र” में रहना नहीं चाहते। यूनान के अलग होते ही यूरो क्षेत्र के बिखराव का खतरा पैदा हो जायेगा क्योंकि स्पेन, इटली, पुर्तगाल, बेल्जियम और फ्रांस भी इसी कतार में हैं।

विश्वव्यापी आर्थिक मन्दी भारत को भी कई तरीकों से प्रभावित कर रही है। सालों से भारत की ऊँची आर्थिक वृद्धि विदेशी निवेश की वैशाखी पर टिकी है। विदेशी निवेश के गिरने पर इसका डॉवाडोल हो जाना लाजिमी था। डॉलर का मूल्य बढ़ जाने से रुपया कमजोर हो गया। इससे विदेशी सामान खरीदने के लिए भारत को अधिक मात्रा में रुपया खर्च करना पड़ा।

निर्यात में कमी और आयात के अधिक खर्चीला होने के चलते व्यापार संतुलन बिगड़ गया। व्यापार घाटे के चलते डॉलर का भण्डार खत्म होने लगा। इससे विदेशी निवेशक फिर अपना डॉलर लेकर भागने लगे, जिन्हें लुभाने के लिए सरकार ने पेट्रोल, डीजल और रसोई गैस की कीमतों को बढ़ा दिया। प्रत्यक्ष विदेशी निवेश के रास्ते की कई अड़चनों को दूर कर दिया। वालमार्ट जैसी दैत्याकार मल्टीब्राण्ड खुदरा कम्पनियों के लिए भारत में आने के दरवाजे खोल दिये।

बड़े उद्योगों को फायदा पहुँचाने वाली सरकारी नीतियों के कारण महँगाई आसमान छूने लगी। लेकिन लम्बे समय तक महँगाई की ऊँची दर औद्योगिक विकास को गिरा देती है। इसलिए रिजर्व बैंक ने महँगाई को कम करने के लिए ब्याज दर बढ़ा दिया। इससे जुलाई में औद्योगिक

उत्पादन की वृद्धि दर गिरकर 3.3 प्रतिशत हो गयी और कर्ज की महँगी दर के कारण मकान और कार की माँग में कमी आ गयी। बाजार सिकुड़ गया। स्थिति इतनी खराब हो गयी कि त्र्यौहार के समय भी बाजार में कोई रौनक नहीं दिखती।

महँगाई युक्त मन्दी ने जहाँ एक ओर मेहनतकश जनता की कमर तोड़ दी, वहीं दूसरी ओर पूँजीवादी अर्थशास्त्री इसे मन्दी से लड़ने के लिए रणनीति के तौर पर इस्तेमाल कर रहे हैं। मन्दी से निपटने के लिए उनके पास दो रास्ते थे। पहले रास्ते पर चलते हुए वे सामानों के दाम कम रख सकते थे। इससे उत्पादन अर्थव्यवस्था को प्रोत्साहन मिलता, लोगों की समृद्धि में वृद्धि होती और मन्दी के बादल छंट जाते। लेकिन इस व्यवस्था के रहते यह कदम उठाना संभव नहीं है, क्योंकि अतिउत्पादन से ग्रस्त अर्थव्यवस्था को इस तरह आगे नहीं बढ़ाया जा सकता है। सबसे बड़ी समस्या यह है कि जिनके पास दौलत है, उनका घर मालों से पटा पड़ा है और बहुसंख्य जनता जिन्हें मालों की जरूरत है, उनकी जेबें खाली हैं। अब उत्पादन को जारी रखने के लिए जरूरी माँग कहाँ से पैदा की जाय? आज पूँजीवाद जनता की क्रयशक्ति बढ़ाकर माँग में तेजी लाने में अक्षम हो चुका है क्योंकि पूँजीपति मुनाफे की जो ऊँची दर चाहता है वह इससे पूरी नहीं हो सकती। इसलिए वह दूसरे

पिछले चार सालों में वैश्विक मन्दी के दौरान अमरीका के सकल घरेलू उत्पाद में वृद्धि का 90 प्रतिशत हिस्सा उच्च आय वर्ग वाले एक प्रतिशत लोगों ने हासिल किया। रोजगार में तेज गिरावट के बावजूद वॉल स्ट्रीट से जुड़े सट्टेबाजों की कमाई में रिकार्ड बढ़ोत्तरी हुई। जबकि वहाँ के सामान्य लोगों की वास्तविक आय 2007 की तुलना में 8 प्रतिशत कम हुई है।

रास्ते की ओर निकल गया। जहाँ शेयर बाजार, किसिम-किसिम की व्युत्पत्तियाँ और वित्तीय पूँजी का विशाल भण्डार उसका इन्तजार कर रहे थे। दुनियाभर की सभी सरकारें इस रास्ते की ओर बेधड़क चली जा रही हैं। शेयर बाजार के जरिये वित्तीय कारोबार और उसके पक्ष में लागू की गयी सरकारी नीतियों के कारण महँगाई में बेतहासा वृद्धि हुई है। इससे शेयर बाजार से जुड़ी कम्पनियों का मुनाफा आसमान छूने लगा है। लेकिन दूसरी ओर मन्दी और महँगाई के कारण लोगों का जीवन स्तर गिरता जा रहा है।

बेरोजगारी बढ़ने से पूँजीपति बहुत कम वेतन देकर अपनी फैक्टरी में मजदूरों से काम लेता है। मजदूरों की दर कम होने से वह अधिक संख्या में मजदूरों को काम देगा, यह सोचना गलत है। बेरोजगारी के मानसिक दबाव के चलते कम वेतन में ही लोग 8 घण्टे के बजाय

14-16 घण्टे काम करने के लिए तैयार रहते हैं। इसका फायदा उठाकर पूँजीपति आधे मजदूरों की छंटनी कर देता है। इस तरह मन्दी भी पूँजीपतियों के लिए वरदान है। जबकि अर्थव्यवस्था से बाहर फेंक दिये गये मजदूर असंगठित क्षेत्र में छोटे-मोटे काम करके किसी तरह गुजारा करते

हैं। असंगठित क्षेत्र में मजदूरों की संख्या बढ़ने और संसाधन सीमित होने के कारण उनका जीवन स्तर गिर रहा है। मन्दी दुनियाभर की मेहनतकश जनता की कंगाली बढ़ा रही है।

महँगाई की ऊँची दर से जहाँ कम्पनियाँ अकूत मुनाफा कमाती हैं, वहीं सट्टेबाज भी मालामाल हो जाते हैं। दाम बढ़ने के चलते सट्टेबाज शेयर बाजार में निवेश करने के बजाय उपभोक्ता वस्तुओं, सोने-चाँदी, जमीन और मकान में निवेश करता है। जमीन और मकान खरीदने से भवन निर्माण को प्रोत्साहन मिलता है जिससे ईंट, सीमेंट, सरिया और फर्नीचर उद्योग फूलने-फलने लगते हैं। लेकिन मकानों के दामों में फर्जी वृद्धि के कारण बड़ी संख्या में जरूरतमन्द लोग मकान नहीं खरीद पाते। दूसरी ओर सट्टेबाज बड़ी मात्रा में वस्तुओं को खरीदकर जमाखोरी करता है और महँगाई बढ़ने पर उसे ऊँचे दामों में बेचकर खूब मुनाफा कमाता है। जब सट्टेबाज बाजार से बड़ी मात्रा में मालों की खरीददारी करके जमाखोरी कर लेता

है तो इससे मालों की आपूर्ति में अचानक कमी हो जाती है, इससे एक ओर फर्जी तौर पर मालों का दाम बढ़ जाता है तो दूसरी ओर आपूर्ति की कमी को पूरा करने के लिए कल-कारखाने फिर से चल पड़ते हैं। मन्दी के बादल छंटने लगते हैं। केन्द्र सरकार भी मन्दी दूर करने के लिए इसे एक रणनीति के तौर पर इस्तेमाल करती है। मन्दी, महँगाई, सट्टेबाज, जमाखोर, सरकार और पूँजीपति एक-दूसरे के रिश्तेदार बन जाते हैं जो आम जनता की बदहाली की कीमत पर फलते-फूलते हैं।

लेकिन सट्टेबाजी और जमाखोरी के जरिये तात्कालिक माँग बढ़ाकर मन्दी दूर करना बहुत अस्थायी समाधान है। ऐसा करके वे कुछ समय के लिए मन्दी को टालते हैं। मन्दी इस व्यवस्था का ढाँचागत संकट है इस व्यवस्था के रहते इससे छुटकारा पाना असंभव है। पिछले पाँच सालों से जारी मन्दी

इसी ओर इशारा कर रही है। मन्दी के दौरान तीसरी दुनिया के देशों की अर्थव्यवस्था में हल्की वृद्धि और धीरे-धीरे उसका गिरते जाना समस्या की भयावहता को दिखाता है। जमाखोरी के कारण पैदा हुई नकली माँग भी अतिउत्पादन के आगे टिक नहीं सकी। पाँच सालों से दुनिया की अर्थव्यवस्था चिरन्तन मन्दी की

सट्टेबाजी और जमाखोरी के जरिये तात्कालिक माँग बढ़ाकर मन्दी दूर करना बहुत अस्थायी समाधान है। ऐसा करके कुछ समय के लिए मन्दी को बस टाला जा सकता है। मन्दी इस व्यवस्था का ढाँचागत संकट है इस व्यवस्था के रहते इससे छुटकारा पाना असंभव है। पिछले पाँच सालों से जारी मन्दी इसी ओर इशारा कर रही है।

चपेट में है।

मन्दी को दूर करने में केन्द्रीय बैंकों की भूमिका बहुत नकारात्मक रही है। इन्होंने जनता की क्रयशक्ति बढ़ाकर और माँग में वृद्धि करके मन्दी को खत्म करने का प्रयास नहीं किया। इसके बजाय कुछ खनकते सिक्कों के लिए अपनी आत्मा बेचकर मुनाफा कमाने वाले सट्टेबाजों की मदद की। इन जोकों को बचाने के लिए करदाताओं के हजारों करोड़ रुपये, पेन्शन फण्ड और केन्द्रीय बैंक में जमा देश की सम्पदा को झोंक दिया गया। दुनिया की अर्थव्यवस्था को संचालित करने वाले ये बैंक सबसे शक्तिशाली और निडर खिलाड़ी हैं। सर से पाँव तक सटोरिया पूँजी की कीचड़ से लतपथ सट्टेबाजों की साख को इन्होंने ही बचा लिया। विश्व बैंक और अन्तरराष्ट्रीय मुद्राकोष से ये दिशा-निर्देश प्राप्त करते हैं। कई मामलों में ये बैंक सीधे राजनीतिक निर्णयों को प्रभावित करते हैं। दुनिया के लगभग सभी देशों में जनता द्वारा चुने हुए प्रतिनिधि सत्ता चलाते हैं।

लेकिन इस पूँजीवादी व्यवस्था में उन राजनेताओं के द्वारा आर्थिक नियोजन नहीं होता, बल्कि वित्तीय संस्थाओं के शीर्षस्थ खिलाड़ी इस काम को अंजाम देते हैं। पंचवर्षीय मन्दी के दौरान केन्द्रीय बैंकों की भूमिका बहुत बढ़ गयी है। इसी का नतीजा है कि भारत समेत कई देशों के शीर्षस्थ राजनीतिक पदों पर अर्थशास्त्री काबिज हैं। ये गुट अर्थव्यवस्था का संचालन मेहनतकश जनता के हित में न करके उच्च वर्ग के मुठ्ठीभर लोगों के लिए करते हैं। इससे लोकतांत्रिक मूल्यों के बजाय तानाशाही की बढ़ावा मिलता है, क्योंकि उच्च वर्ग बिना वोट डाले पूँजी के दम पर सत्ता की बागडोर अपने हाथ में रखता है। कोई भी पार्टी सत्ता में आये इससे उस पर कोई फर्क नहीं पड़ता। दूसरी ओर वोट देने के बावजूद बहुसंख्य जनता की हालत बद से बदतर होती जा रही है। लोकतंत्र से लोगों का विश्वास उठता जा रहा है। मन्दी के इस दौर में कमजोर लोकतंत्र के चलते फासीवाद का खतरा बढ़ गया है।

संकट अभी खत्म नहीं हुआ है और न ही इसके खत्म होने की दूर तक कोई संभावना ही नजर आ रही है। अलबत्ता संकट का फायदा उठाकर शासक वर्गों ने मेहनतकश जनता के अधिकारों और सुविधाओं में कटौती कर दी। इसके चलते दुनियाभर में राजनीतिक सरगर्मी तेज हो रही है। विरोध प्रदर्शन, आन्दोलन, हड़ताल और उनमें शामिल होने वाले लोगों की संख्या में वृद्धि हो रही है। जैसे- इंग्लैंड में शिक्षा, स्वास्थ्य और अन्य सार्वजनिक सेवाओं के निजीकरण और आर्थिक कटौती के खिलाफ विरोध प्रदर्शन चल रहे हैं। वहाँ ट्रेड यूनियनने ज्यादातर मामलों में कर्मचारियों के बजाय मालिक के हित में काम करती हैं लेकिन कर्मचारियों और प्रतिरोध मोर्चा के दबाव के कारण उसे राष्ट्रव्यापी प्रदर्शन की अगुआई करनी पड़ी। दैत्याकार कम्पनियों के पक्ष में बेशर्मी से खड़े होने के कारण जनता में सरकार की साख गिरती जा रही है। जनविरोधी नीतियों की मुखालफत करने के लिए लोग सड़कों पर उतर रहे हैं।

पुर्तगाल की दक्षिणपंथी सरकार ने संसद में टैक्स वृद्धि और आर्थिक कटौती से सम्बन्धित विधेयक पास कर दिया। इसका फायदा उठाकर सरकार अगले साल करदाताओं से 30 प्रतिशत अधिक टैक्स वसूलेगी। जबकि पेन्शन और सार्वजनिक स्वास्थ्य सेवा में कटौती करके वह 2.7 अरब यूरो जुटायेगी। इसके खिलाफ ट्रेड यूनियन और कई राजनीतिक ग्रुपों ने लिस्बन में संसद के सामने प्रदर्शन किया। प्रदर्शनकारियों का मानना था कि “उनकी सरकार उन्हें भूखों मारने का पूरा

इन्तजाम कर रही है। इस असहनीय अन्याय के खिलाफ उन्हें सड़कों पर उतरना अनिवार्य हो गया।”

यूरो क्षेत्र के वित्तमंत्री और अन्तरराष्ट्रीय मुद्राकोष यूनान के कर्ज में 40 अरब यूरो की कटौती करने पर सहमत हो गये हैं। इसके साथ ही यूनान को कठोर शर्तों पर 43.7 अरब डॉलर का बचाव कर्ज दिया जायेगा। समझौते की कठोर शर्तों के कारण सरकार अपनी जनता की जेब पर डाका डालेगी। विपक्ष ने इस समझौते का विरोध किया है। इस समझौते के चलते 27000 सार्वजनिक नौकरियां खत्म हो जायेंगी। इसके खिलाफ शिक्षकों और स्थानीय प्रशासनिक कर्मचारियों ने एथेंस में विरोध प्रदर्शन किया। ट्यूनीशिया की आर्थिक स्थिति खराब है। वहाँ प्रदर्शनकारियों और पुलिस के बीच झड़प में 200 लोग घायल हो गये। यूरोप के विभिन्न स्थानों से एकत्र हुए सैकड़ों डेयरी उत्पादकों ने दूध की कीमत बढ़ाने लिए ब्रुसेल्स में प्रदर्शन किया।

भारत, यूरोप और अमरीका समेत दुनिया के लगभग सभी देशों में शासक वर्ग के हमले के खिलाफ विरोध बढ़ता जा रहा है। लेकिन हर जगह प्रदर्शनकारियों को हार का सामना करना पड़ रहा है। मन्दी पूँजीवादी व्यवस्था का ढाँचागत संकट है। इस व्यवस्था के ढाँचे में ही कुछ गड़बड़ी है जिससे यह व्यवस्था बार-बार संकटग्रस्त होती है और इस बार संकट जानलेवा लग रहा है। यह पिछले पाँच सालों से जारी है। मर्ज बढ़ता गया ज्यों-ज्यों दवा की। इसमें किसी सुधार की कोई गुंजाइश नहीं बची है। न आर्थिक सुधारों के जरिये और न ही सरकारी बदलावों से इस संकट को खत्म किया जा सकता है। विरोध प्रदर्शन, हड़ताल और आन्दोलन से कुछ सहूलियत हासिल करना आज अधिक मुश्किल हो गया है क्योंकि शासक वर्ग मेहनतकश जनता के किसी भी आन्दोलन का बर्बर दमन करने पर आमादा है। पूँजीवादी ढाँचे का यह संकट व्यवस्था के दूसरे हिस्सों को भी प्रभावित कर रहा है। यह सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक पतन को जन्म दे रहा है। इस जर्जर पूँजीवादी व्यवस्था को खत्म करके इसकी जगह अधिक न्यायसंगत व्यवस्था की नींव रखनी होगी। नयी व्यवस्था शोषण और मुनाफा केन्द्रित नहीं होगी बल्कि इंसान के सम्पूर्ण विकास पर टिकी होगी। ऐसी व्यवस्था ही मन्दी के रोग से समाज को छुटकारा दिला सकती है। □

रात काफी हो गयी थी जब मैं उस घर से विदा हुआ जहाँ मित्रों की एक गोष्ठी में अपनी प्रकाशित कहानियों में से एक का मैंने अभी पाठ किया था। उन्होंने तारीफ के पुल बाँधने में कोई कसर नहीं छोड़ी थी और मैं धीरे-धीरे मगन भाव से सड़क पर चल रहा था, मेरा हृदय आनंद से छलक रहा था और जीवन के एक ऐसा सुख का अनुभव मैं कर रहा था जैसा पहले कभी नहीं किया था।

फरवरी का महीना था, रात साफ थी और खूब तारों से जड़ा मेघरहित आकाश धरती पर स्फूर्तिदायक शीतलता का संचार कर रहा था, जो नयी गिरी बर्फ से सोलहों सिंगार किये हुए थी।

‘इस धरती पर लोगों की नजरों में कुछ होना अच्छा लगता है!’ मैंने सोचा और मेरे भविष्य के चित्र में उजले रंग भरने में मेरी कल्पना ने कोई कोताही नहीं की।

‘हाँ, तुमने एक बहुत ही प्यारी-सी चीज लिखी है, इसमें कोई शक नहीं,’ मेरे पीछे सहसा कोई गुनगुना उठा,

मैं अचरज से चौंका और घूमकर देखने लगा,

काले कपड़े पहने एक छोटे कद का आदमी आगे बढ़कर निकट आ गया और पैनी लघु मुस्कान के साथ मेरे चेहरे पर उसने अपनी आँखें जमा दीं, उसकी हर चीज पैनी मालूम होती थी-उसकी नजर, उसके गालों की हड्डियाँ, उसकी दाढ़ी जो बकरे की दाढ़ी की तरह नोकदार थी, उसका समूचा छोटा और मुरझाया-सा ढाँचा, जो कुछ इतना विचित्र नोक-नुकीलापन लिये था कि आँखों में चुभता था, उसकी चाल हल्की और निःशब्द थी, ऐसा मालूम होता था जैसे वह बर्फ पर फिसल रहा हो, गोष्ठी में जो लोग मौजूद थे, उनमें वह मुझे नजर नहीं आया था और इसीलिए उसकी टिप्पणी ने मुझे चकित कर दिया था, वह कौन था? और कहाँ से आया था?

‘क्या आपने... मतलब... मेरी कहानी सुनी थी?’ मैंने पूछा

‘हाँ, मुझे उसे सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ।’

उसकी आवाज तेज थी, उसके पतले होंठ और छोटी काली मुठें थी जो उसकी मुस्कान को नहीं छिपा पाती थीं। मुस्कान उसके होंठों से विदा होने का नाम ही नहीं लेती थी और यह मुझे बड़ा अटपटा मालूम हो रहा था।

‘अपने आपको अन्य सबसे अनोखा अनुभव करना बड़ा

सुखद मालूम होता है, क्यों, ठीक है न?’ मेरे साथी ने पूछा,

मुझे इस प्रश्न में ऐसी कोई बात नहीं लगी जो असाधारण हो, सो मुझे सहमति प्रकट करने में देर नहीं लगी।

‘हो-हो-हो!’ पतली उँगलियों से अपने छोटे हाथों को मलते हुए वह तीखी हँसी हँसा, उसकी हँसी मुझे अपमानित करने वाली थी।

‘तुम बड़े हँसमुख जीव मालूम होते हो,’ मैंने रूखी आवाज में कहा, ‘अरे हाँ, बहुत!’ मुस्काराते और सिर हिलाते हुए उसने तार्किक की, ‘साथ ही मैं बाल की खाल निकालने वाला भी हूँ क्योंकि मैं हमेशा चीजों को जानना चाहता हूँ हर चीज को जानना चाहता हूँ।’

वह फिर अपनी तीखी हँसी हँसा और बेध देने वाली अपनी काली आँखों से मेरी ओर देखता रहा, मैंने अपने कद की ऊँचाई से एक नजर उस पर डाली और ठंडी आवाज में पूछा, ‘भाफ करना लेकिन क्या मैं जान सकता हूँ कि मुझे किससे बातें करने का सौभाग्य...’

‘मैं कौन हूँ? क्या तुम अनुमान नहीं लगा सकते? जो हो, क्या फिलहाल तुम्हें आदमी का नाम उस बात से ज्यादा महत्वपूर्ण मालूम होता है जो कि वह कहने जा रहा है?’

‘निश्चय ही नहीं, लेकिन यह कुछ... बहुत ही अजीब है,’ मैंने जवाब दिया।

उसने मेरी आस्तीन पकड़ कर उसे एक हल्का-सा झटका दिया और शांत हँसी के साथ कहा, ‘होने दो अजीब, आदमी कभी तो जीवन की साधारण और घिसी-पिटी सीमाओं को लाँघना चाहता ही है, अगर एतराज न हो तो आओ, जरा खुलकर बातें करें, समझ लो कि मैं तुम्हारा एक पाठक हूँ एक विचित्र प्रकार का पाठक, जो यह जानना चाहता है कि कोई पुस्तक-मिसाल के लिये तुम्हारी अपनी लिखी हुई पुस्तकें-कैसे और किस उद्देश्य के लिये लिखी गयी हैं, बोलो, इस तरह की बातचीत पसंद करोगे?’

‘ओह, जरूर!’ मैंने कहा, ‘मुझे खुशी होगी, ऐसे आदमी से बात करने का अवसर रोज-रोज नहीं मिलता,’ लेकिन मैंने यह झूठ कहा था, क्योंकि मुझे यह सब बेहद नागवार मालूम हो रहा था, फिर भी मैं उसके साथ चलता रहा धीमे कदमों से, शिष्टाचार

की ऐसी मुद्रा बनाये, मानो मैं उसकी बात ध्यान से सुन रहा हूँ।

मेरा साथी क्षण भर के लिए चुप हो गया और फिर बड़े विश्वासपूर्ण स्वर में उसने कहा, “मानवीय व्यवहार में निहित उद्देश्यों और इरादों से ज्यादा विचित्र और महत्वपूर्ण चीज इस दुनिया में और कोई नहीं है, तुम यह मानते हो न?” मैंने सिर हिलाकर हामी भरी।

“ठीक, तब आओ, जरा खुलकर बातें करें, सुनो, तुम जब तक जवान हो तब तक खुलकर बात करने का एक भी अवसर हाथ से नहीं जाने देना चाहिए।”

“अजीब आदमी है!” मैंने सोचा, लेकिन उसके शब्दों ने मुझे उलझा दिया था।

“सो तो ठीक है,” मैंने मुस्कराते हुए कहा, “लेकिन हम बातें किस चीज के बारे में करेंगे?”

पुराने परिचित की भांति उसने घनिष्ठता से मेरी आँखों में देखा और कहा, “साहित्य के उद्देश्यों के बारे में, क्यों, ठीक है न?”

“हाँ मगर... देर काफी हो गयी है...”

“ओह, तुम अभी नौजवान हो, तुम्हारे लिये अभी देर नहीं हुई।”

मैं ठिठक गया, उसके शब्दों ने मुझे स्तब्ध कर दिया था। किसी और ही अर्थ में उसने इन शब्दों का उच्चारण किया था और इतनी गम्भीरता से किया था कि वे भविष्य का उद्घोष मालूम होते थे। मैं ठिठक गया था, लेकिन उसने मेरी बाँह पकड़ी और चुपचाप किन्तु दृढ़ता के साथ आगे बढ़ चला।

“रुको नहीं, मेरे साथ तुम सही रास्ते पर हो” उसने कहा, “बात शुरू करो, तुम मुझे यह बताओ कि साहित्य का उद्देश्य क्या है?” मेरा अचरज बढ़ता जा रहा था और आत्मसंतुलन घटता जा रहा था। आखिर यह आदमी मुझसे चाहता क्या है? और यह है कौन? निस्संदेह वह एक दिलचस्प आदमी था, लेकिन मैं उससे खीज उठा था। उससे पिंड छुड़ाने की एक और कोशिश करते हुए जरा तेजी से आगे की ओर लपका, लेकिन वह भी पीछे न रहा, साथ चलते हुए शांत भाव से बोला, “मैं तुम्हारी दिक्कत समझ सकता हूँ, एकाएक साहित्य के उद्देश्य की व्याख्या करना तुम्हारे लिये कठिन है, कहो तो मैं कोशिश करूँ?”

उसने मुस्कराते हुए मेरी ओर देखा लेकिन मेरे उत्तर की प्रतीक्षा किये बिना कहने लगा, “शायद इस बात से तुम सहमत होगे अगर मैं कहूँ कि साहित्य का उद्देश्य है- खुद अपने को जानने में इंसान की मदद करना, उसके आत्मविश्वास को दृढ़ बनाना और

उसके सत्यान्वेषण को सहारा देना, लोगों की अच्छाईयों का उद्घाटन करना और सौंदर्य की पवित्र भावना से उनके जीवन को शुभ बनाना, क्यों, इतना तो मानते हो?”

“हाँ,” मैंने कहा, “कमोवेश यह सही है, यह तो सभी मानते हैं कि साहित्य का उद्देश्य लोगों को और अच्छा बनाना है।”

“तब देखो न, लेखक के रूप में तुम कितने ऊँचे उद्देश्य के लिए काम करते हो!” मेरे साथी ने गम्भीरता के साथ अपनी बात पर जोर देते हुए कहा और फिर अपनी वही तीखी हँसी हँसने लगा, “हो-हो-हो!”

यह मुझे बड़ा अपमानजनक लगा। मैं दुख और खीज से चीख उठा, “आखिर तुम मुझसे क्या चाहते हो?”

“आओ, थोड़ी देर बाग में चलकर बैठते हैं।” उसने फिर एक हल्की हँसी हँसते हुए और मेरा हाथ पकड़ कर मुझे खींचते हुए कहा।

उस समय हम नगर-बाग की एक वीथिका में थे। चारों ओर बबूल और लिलक की नंगी टहनियाँ दिखायी दे रही थीं, जिन पर बर्फ की परत चढ़ी हुई थी। वे चाँद की रोशनी में चमचमाती मेरे सिर के ऊपर भी छाई हुई थीं और ऐसा मालूम होता था जैसे बर्फ का कवच पहने ये सख्त टहनियाँ मेरे सीने को बेध कर सीधे मेरे हृदय तक पहुँच गयी हों।

मैंने बिना एक शब्द कहे अपने साथी की ओर देखा, उसके व्यवहार ने मुझे चक्कर में डाल दिया था। “इसके दिमाग का कोई पर्जा ढीला मालूम होता है।” मैंने सोचा और उसके व्यवहार की इस व्याख्या से अपने मन को संतोष देने की कोशिश की।

“शायद तुम्हारा खयाल है कि मेरा दिमाग कुछ चल गया है” उसने जैसे मेरे भावों को ताड़ते हुए कहा। “लेकिन ऐसे खयाल को अपने दिमाग से निकाल दो यह तुम्हारे लिये नुकसानदेह और अशोभनीय है... बजाय इसके कि हम उस आदमी को समझने की कोशिश करें, जो हमसे भिन्न है। इस बहाने की ओट लेकर हम उसे समझने के झंझट से छुट्टी पा जाना चाहते हैं। मनुष्य के प्रति मनुष्य की दुखद उदासीनता का यह एक बहुत ही पुष्ट प्रमाण है।”

“ओह ठीक है,” मैंने कहा। मेरी खीज बराबर बढ़ती ही जा रही थी, “लेकिन माफ करना, मैं अब चलूँगा, काफी समय हो गया।”

“जाओ,” अपने कंधों को बिचकाते हुए उसने कहा। “जाओ, लेकिन यह जान लो कि तुम खुद अपने से भाग रहे हो।” उसने मेरा हाथ छोड़ दिया और मैं वहाँ से चल दिया।

वह बाग में ही टीले पर रुक गया। वहाँ से वोल्गा नजर

आती थी जो अब बर्फ की चादर ताने थी और ऐसा मालूम होता था जैसे बर्फ की उस चादर पर सड़कों के काले फीते टंके हों, सामने दूर तट के निस्तब्ध और उदासी में डूबे विस्तृत मैदान फैले थे। वह वहीं पड़ी हुई एक बैंच पर बैठ गया और सूने मैदानों की ओर ताकता हुआ सीटी की आवाज में एक परिचित गीत की धुन गुनगुनाने लगा।

वो क्या दिखायेंगे राह हमको
जिन्हें खुद अपनी खबर नहीं

मैंने घूमकर उसकी ओर देखा अपनी कुहनी को घुटने पर और ठोड़ी को हथेली पर टिकाये, मुँह से सीटी बजाता, वह मेरी ही ओर नजर जमाये हुए था और चाँदनी से चमकते उसने चेहरे पर उसकी नहीं काली मूँछें फड़क रही थीं। यह समझकर कि यही विधि का विधान है, मैंने उसके पास लौटने का निश्चय कर लिया। तेज कदमों से मैं वहाँ पहुँचा और उसके बराबर में बैठ गया।

“देखो, अगर हमें बात करनी है तो सीधे-सादे ढंग से करनी चाहिए,” मैंने आवेशपूर्वक लेकिन स्वयं को संयत रखते हुए कहा।

“लोगों को हमेशा ही सीधे-सादे ढंग से बात करनी चाहिए।” उसने सिर हिलाते हुए स्वीकार किया, “लेकिन यह तुम्हें भी मानना पड़ेगा कि अपने उस ढंग से काम लिये बिना मैं तुम्हारा ध्यान आकर्षित नहीं कर सकता था। आजकल सीधी-सादी और साफ बातों को नीरस और रूखी कह कर नजरअंदाज कर दिया जाता है। लेकिन असल बात यह है कि हम खुद ठंडे और कठोर हो गये हैं और इसीलिए हम किसी भी चीज में जोश या कोमलता लाने में असमर्थ रहते हैं। हम तुच्छ कल्पनाओं और दिवास्वप्नों में रमना तथा अपने आपको कुछ विचित्र और अनोखा जताना चाहते हैं, क्योंकि जिस जीवन की हमने रचना की है, वह नीरस, बेरंग और उबाऊ है, जिस जीवन को हम कभी इतनी लगन और आवेश के साथ बदलने चले थे, उसने हमें कुचल और तोड़ डाला है” एक पल चुप रहकर उसने पूछा, “क्यों, मैं ठीक कहता हूँ न?”

“हाँ,” मैंने कहा, “तुम्हारा कहना ठीक है,”

“तुम बड़ी जल्दी घुटने टेक देते हो!” तीखी हँसी हँसते हुए मेरे प्रतिवादी ने मेरा माखौल उड़ाया। मैं परत हो गया। उसने अपनी पैनी नजर मुझ पर जमा दी और मुस्कराता हुआ बोला, “तुम जो लिखते हो उसे हजारों लोग पढ़ते हैं। तुम किस चीज का प्रचार करते हो? और क्या तुमने कभी अपने से यह पूछा है कि दूसरों को सीख देने का तुम्हें क्या अधिकार है?”

जीवन में पहली बार मैंने अपनी आत्मा को टटोला, उसे

जाँचा-परखा। हाँ, तो मैं किस चीज का प्रचार करता हूँ? लोगों से कहने के लिए मेरे पास क्या है? क्या वे ही सब चीजें, जिन्हें हमेशा कहा-सुना जाता है, लेकिन जो आदमी को बदल कर बेहतर नहीं बनातीं? और उन विचारों तथा नीतिवचनों का प्रचार करने का मुझे क्या हक है, जिनमें न तो मैं यकीन करता हूँ और न जिन्हें मैं अमल में लाता हूँ? जब मैंने खुद उनके खिलाफ आचरण किया, तब क्या यह सिद्ध नहीं होता कि उनकी सच्चाई में मेरा विश्वास नहीं है? इस आदमी को मैं क्या जवाब दूँ जो मेरी बगल में बैठा है?

लेकिन उसने, मेरे जवाब की प्रतीक्षा से ऊब कर, फिर बोलना शुरू कर दिया, “एक समय था जब यह धरती लेखन-कला विशारदों, जीवन और मानव-हृदय के अध्येताओं और ऐसे लोगों से आबाद थी जो दुनिया को अच्छा बनाने की सर्वप्रबल आकांक्षा एवं मानव-प्रकृति में गहरे विश्वास से अनुप्राणित थे, उन्होंने ऐसी पुस्तकें लिखीं जो कभी विस्मृति के गर्भ में विलीन नहीं होंगी, कारण, वे अमर सच्चाइयों को अंकित करती हैं और उनके पन्नों से कभी मलिन न होने वाला सौंदर्य प्रस्फुटित होता है। उनमें चित्रित पात्र जीवन के सच्चे पात्र हैं, क्योंकि प्रेरणा ने उनमें जान फूँकी है, उन पुस्तकों में साहस है, दहकता हुआ गुस्सा और उन्मुक्त सच्चा प्रेम है और उनमें एक भी शब्द भरती का नहीं है।

“तुमने, मैं जानता हूँ, ऐसी ही पुस्तकों से अपनी आत्मा के लिये पोषण ग्रहण किया है, फिर भी तुम्हारी आत्मा उसे पचा नहीं सकी, सत्य और प्रेम के बारे में तुम जो लिखते हो, वह झूठा और अनुभूतिशून्य प्रतीत होता है, लगता है, जैसे शब्द जबरदस्ती मुँह से निकाले जा रहे हों, चंद्रमा की तरह तुम दूसरे की रोशनी से चमकते हो और यह रोशनी भी बुरी तरह मलिन है- वह परछाईयाँ खूब डालती है, लेकिन आलोक कम देती है और गरमी तो उसमें जरा भी नहीं है।

“असल में तुम खुद गरीब हो, इतने कि दूसरों को ऐसी कोई चीज नहीं दे सकते जो वस्तुतः मूल्यवान हो और जब देते भी हो तो सर्वोच्च संतोष की इस सजग अनुभूति के साथ नहीं कि तुमने सुंदर विचारों और शब्दों की निधि में वृद्धि करके जीवन को सम्पन्न बनाया है, तुम केवल इसलिए देते हो कि जीवन से और लोगों से अधिकाधिक ले सको, तुम इतने दरिद्र हो कि उपहार नहीं दे सकते, या तुम सूदखोर हो और अनुभव के टुकड़ों का लेन-देन करते हो, ताकि तुम ख्याति के रूप में सूद बटोर सको।

“तुम्हारी लेखनी चीजों की सतह को ही खरोचती है। जीवन की तुच्छ परिस्थितियों को ही तुम निरर्थक ढंग से कोंचते-कुरेदते

रहते हो। तुम साधारण लोगों के साधारण भावों का वर्णन करते रहते हो, हो सकता है, इससे तुम उन्हें अनेक साधारण महत्त्वहीन सच्चाइयाँ सिखाते हो, लेकिन क्या तुम कोई ऐसी रचना भी कर सकते हो जो मनुष्य की आत्मा को ऊँचा उठाने की क्षमता रखती हो? नहीं! तो क्या तुम सचमुच इसे इतना महत्त्वपूर्ण समझते हो कि हर जगह पड़े हुए कूड़े के ढेरों को कुरेदा जाये और यह सिद्ध किया जाये कि मनुष्य बुरा है, मूर्ख है, आत्मसम्मान की भावना से बेखबर है, परिस्थितियों का गुलाम है, पूर्णतया और हमेशा के लिये कमजोर, दयनीय और अकेला है?

“अगर तुम पूछो तो मनुष्य के बारे में ऐसा घृणित प्रचार मानवता के शत्रु करते हैं- और दुख की बात यह है कि वे मनुष्य के हृदय में यह विश्वास जमाने में सफल भी हो चुके हैं। तुम ही देखो, मानव-मस्तिष्क आज कितना ठस हो

गया है और उसकी आत्मा के तार कितने बेआवाज हो गये हैं, यह कोई अचरज की बात नहीं है, वह अपने आपको उसी रूप में देखता है जैसा कि वह पुस्तकों में दिखाया जाता है।

“और पुस्तकें - खास तौर से प्रतिभा का भ्रम पैदा करने वाली वाक्-चपलता से लिखी गयी पुस्तकें- पाठकों को हतबुद्धि करके एक हद तक उन्हें अपने वश में कर लेती हैं, अगर उनमें मनुष्य को कमजोर, दयनीय, अकेला दिखाया गया है तो पाठक उनमें अपने को देखते समय अपना भोंडापन तो देखता है, लेकिन उसे यह नजर नहीं आता कि उसके सुधार की भी कोई सम्भावना हो सकती है। क्या तुममें इस सम्भावना को उभारकर रखने की क्षमता है? लेकिन यह तुम कैसे कर सकते हो, जबकि तुम खुद ही... जाने दो, मैं तुम्हारी भावनाओं को चोट नहीं पहुँचाऊँगा, क्योंकि मेरी बात काटने या अपने को सही ठहराने की कोशिश किये बिना तुम मेरी बात सुन रहे हो।

“तुम अपने आपको मसीहा के रूप में देखते हो, समझते हो कि बुराइयों को खोल कर रखने के लिये खुद ईश्वर ने तुम्हें इस दुनिया में भेजा है, ताकि अच्छाइयों की विजय हो, लेकिन बुराइयों को अच्छाइयों से छँटते समय क्या तुमने यह नहीं देखा कि ये दोनों एक-दूसरे से गुंथी हुई हैं और इन्हें अलग नहीं किया जा सकता? मुझे तो इसमें भी भारी संदेह है कि खुदा ने तुम्हें अपना मसीहा

बना कर भेजा है। अगर वह भेजता तो तुमसे ज्यादा मजबूत इंसानों को इस काम के लिए चुनता, उनके हृदयों में जीवन, सत्य और लोगों के प्रति गहरे प्रेम की जोत जगाता ताकि वे अंधकार में उसके गौरव और शक्ति का उद्घोष करने वाली मशालों की भाँति आलोक फैलायें, तुम लोग तो शैतान की मोहर दागने वाली छड़ की तरह धुआँ देते हो, और यह धुआँ लोगों को आत्मविश्वासहीनता के भावों से भर देता है। इसलिये तुमने और तुम्हारी जाति के अन्य लोगों ने जो कुछ भी लिखा है, उस सबका एक सचेत पाठक, मैं तुमसे पूछता हूँ- तुम क्यों लिखते हो? तुम्हारी कृतियाँ कुछ नहीं सिखाती और पाठक सिवा तुम्हारे किसी चीज पर लज्जा अनुभव नहीं करता, उनकी हर चीज आम-साधारण है, आम-साधारण लोग, आम-साधारण विचार, आम-साधारण घटनाएँ! आत्मा के विद्रोह और आत्मा के पुनर्जागरण के बारे में तुम लोग कब बोलना शुरू करोगे?

...साहित्य का उद्देश्य है- खुद अपने को जानने में इंसान की मदद करना, उसके आत्मविश्वास को दृढ़ बनाना और उसके सत्यान्वेषण को सहारा देना, लोगों की अच्छाइयों का उद्घाटन करना और सौंदर्य की पवित्र भावना से उनके जीवन को शुभ बनाना।

तुम्हारे लेखन में रचनात्मक जीवन की वह ललकार कहाँ है, वीरत्व के दृष्टांत और प्रोत्साहन के वे शब्द कहाँ हैं, जिन्हें सुनकर आत्मा आकाश की ऊँचाइयों को छूती है?

“शायद तुम कहो- जो कुछ हम पेश करते हैं, उसके सिवा जीवन में अन्य नमूने मिलते कहाँ है?”

न, ऐसी बात मुँह से न निकालना, यह लज्जा और अपमान की बात है कि वह, जिसे भगवान ने लिखने की शक्ति प्रदान की है। जीवन के सम्मुख अपनी पंगुता और उससे ऊपर उठने में अपनी असमर्थता को स्वीकार करे, अगर तुम्हारा स्तर भी वही है, जो आम जीवन का, अगर तुम्हारी कल्पना ऐसे नमूनों की रचना नहीं कर सकती जो जीवन में मौजूद न रहते हुए भी उसे सुधारने के लिए अत्यंत आवश्यक हैं, तब तुम्हारा कृतित्व किस मर्ज की दवा है? तब तुम्हारे धंधे की क्या सार्थकता रह जाती है?

“लोगों के दिमागों को उनके घटनाविहीन जीवन के फोटोग्राफिक चित्रों का गोदाम बनाते समय अपने हृदय पर हाथ रखकर पूछो कि ऐसा करके क्या तुम नुकसान नहीं पहुँचा रहे हो? कारण- और तुम्हें अब यह तुरन्त स्वीकार कर लेना चाहिए- कि तुम जीवन का ऐसा चित्र पेश करने का ढंग, नहीं जानते जो लज्जा की एक प्रतिशोधपूर्ण चेतना को जन्म दे, जीवन के, नये जीवन के स्पंदन को तीव्र और उसमें स्फूर्ति का संचार करना चाहते हों, जैसा

कि अन्य लोग कर चुके हैं?”

मेरा विचित्र साथी रुक गया और मैं, बिना कुछ बोले, उसके शब्दों पर सोचता रहा, थोड़ी देर बाद उसने फिर कहा, “एक बात और, क्या तुम ऐसी आह्लादपूर्ण हास्य-रचना कर सकते हो, जो आत्मा का सारा मैल धो डाले? देखो न, लोग एकदम भूल गये हैं कि ठीक ढंग से कैसे हँसा जाता है! वे कुत्सा से हँसते हैं, वे कमीनेपन से हँसते हैं, वे अक्सर अपने आँसुओं को बेधकर हँसते हैं, वे हृदय के उस समूह उल्लास से कभी नहीं हँसते जिससे वयस्कों के पेट में बल पड़ जाते हैं, पसलियाँ बोलने लगती हैं, अच्छी हँसी एक स्वास्थ्यप्रद चीज है। यह अत्यंत आवश्यक है कि लोग हँसें, आखिर हँसने की क्षमता उन गिनी-चुनी चीजों में से एक है, जो मनुष्य को पशु से अलग करती हैं, क्या तुम निंदा की हँसी के अवाला अन्य किसी प्रकार की हँसी को भी जन्म दे सकते हो? निंदा की हँसी तो बाजारू हँसी है, जो मानव जीवधारियों को केवल हँसी का पात्र बनाती है कि उसकी स्थिति दयनीय है।

“तुम्हें अपने हृदय में मनुष्य की कमजोरियों के लिये महान घृणा का और मनुष्य के लिये महान प्रेम का पोषण करना चाहिए, तभी तुम लोगों को सीख देने के अधिकारी बन सकोगे, अगर तुम घृणा और प्रेम, दोनों में से किसी का अनुभव नहीं कर सकते, तो सिर नीचा रखो और कुछ कहने से पहले सौ बार सोचो।”

सुबह की सफेदी अब फूट चली थी, लेकिन मेरे हृदय में अंधेरा गहरा रहा था, यह आदमी, जो मेरे अंतर के सभी भेदों से वाकिफ था, अब भी बोल रहा था।

“सब कुछ के बावजूद जीवन पहले से अधिक प्रशस्त और अधिक गहरा होता जा रहा है, लेकिन यह बहुत धीमी गति से हो रहा है, क्योंकि तुम्हारे पास इस गति को तेज बनाने के लायक न तो शक्ति है, न ज्ञान, जीवन आगे बढ़ रहा है और लोग दिन पर दिन अधिक और अधिक जानना चाहते हैं। उनके सवालियों के जवाब कौन दे? यह तुम्हारा काम है लेकिन क्या तुम जीवन में इतने गहरे पैठे हो कि उसे दूसरों के सामने खोल कर रख सको? क्या तुम जानते हो कि समय की माँग क्या है? क्या तुम्हें भविष्य की जानकारी है और क्या तुम अपने शब्दों से उस आदमी में नयी जान फूँक सकते हो जिसे जीवन की नीचता ने भ्रष्ट और निराश कर दिया है?”

यह कहकर वह चुप हो गया। मैंने उसकी ओर नहीं देखा। याद नहीं कौन-सा भाव मेरे हृदय में छाया हुआ था- शर्म का अथवा

डर का। मैं कुछ बोल भी नहीं सका।

“तुम कुछ जवाब नहीं देते?” उसी ने फिर कहा, “खैर, इससे कोई फर्क नहीं पड़ता, मैं तुम्हारे मन की हालत समझ सकता हूँ अच्छा, तो अब मैं चला।”

“इतनी जल्दी?” मैंने धीमी आवाज में कहा- कारण, मैं उससे चाहे जितना भयभीत रहा होऊँ, लेकिन उससे भी अधिक मैं अपने आपसे डर रहा था।

“हाँ, मैं जा रहा हूँ। लेकिन मैं फिर आऊँगा। मेरी प्रतीक्षा करना।”

और वह चला गया। लेकिन क्या वह सचमुच चला गया? मैंने उसे जाते हुए नहीं देखा। वह इतनी तेजी से और खामोशी से गायब हो गया जैसे छाया। मैं वहीं बाग में बैठा रहा- जाने कितनी देर तक- और न मुझे ठंड का पता था, न इस बात का कि सूरज उग आया है और पेड़ों की बर्फ से ढकी टहनियों पर चमक रहा है।

अनुवाद : अनिल जनविजय

(हिन्दीसमय.कॉम से आभार सहित)

“हमारी कसौटी पर वही साहित्य खरा उतरेगा जिसमें उच्च चिंतन हो, स्वाधीनता का भाव हो, सौन्दर्य का सार हो, सृजन की आत्मा हो, जीवन की सच्चाइयों का प्रकाश हो- जो हममें गति, संघर्ष, बेचौनी पैदा करे, सुलाए नहीं क्योंकि अब और ज्यादा सोना मृत्यु का लक्षण है।”

-मुंशी प्रेमचंद

मैं साफ मुकर जाऊँगा

-लात्सलो ताबी

“महाशय, अगर मैं आपसे पूछूँ कि बताइए, दो दूनी कितना होता है, तो आप क्या कहेंगे?”

“मैं कहूँगा चार होता है। दो दूनी चार।”

“आपको इसका पूरा विश्वास है न?”

“बिल्कुल। मैं जान की बाजी लगाने के लिए तैयार हूँ।”

“ठीक। तब मेरा अनुरोध है कि इसे लिखकर मुझे दे दीजिए।”

“क्या लिखकर दे दूँ?”

“यही कि दो दूनी चार होता है। कागज के टुकड़े पर लिख दीजिए कि ‘मेरे ख्याल से दो-दूनी चार होता है।’ फिर उस पर हस्ताक्षर करके तारीख डाल दीजिए। ये लीजिए मेरी नोटबुक का पन्ना हाजिर है...”

“यह तुम्हें क्यों चाहिए?”

“मुझे इस तरह की दिलचस्प चीजें इकट्ठा करने का शौक है।”

“तो ऐसा करना बंद कर दो।”

“क्यों भला? निश्चय ही आप मेरे अनुरोध को नहीं ठुकरायेंगे?”

“माफ करना, तुम्हारा अनुरोध बेवकूफाना है। लोग इस तरह की चीजें नहीं इकट्ठा करते। खैर, जो भी हो, मेरे पास यहाँ कोई चीज नहीं, जिससे लिख सकूँ।”

“यह लीजिए, यह रहा मेरा कलम।”

“मैं दूसरों का कलम नहीं छूता। क्या पता कोई बीमारी लग जाए।”

“तो मैं इस पुर्जे के लिए शाम को आपके घर आ जाऊँगा।”

“शाम को मैं नाटक देखने जा रहा हूँ।”

“तो कल सुबह आ जाऊँ?”

“अगर तुम सुबह के समय आये तो मैं धक्के मार कर निकाल दूँगा।”

“लेकिन आपको एतराज क्या है? जब आप जान की बाजी लगाने को तैयार हैं कि दो दूनी चार होता है। यह कहा था न आपने?”

“तब उसी से काम चलाओ। मैं लिखकर नहीं दूँगा। समझे। क्या भरोसा एक रोज तुम इसे किसी को दिखा न दोगे।”

“दिखा भी दूँगा तो क्या? क्या आपको यकीन नहीं कि दो

दूनी हमेशा चार ही होगा?”

“इसमें मुझे रत्ती भर भी शक नहीं।”

“तब?”

“तब भी। देखो भाई, मैं बाल-बच्चेदार आदमी हूँ और मैंने कभी राजनीति में हिस्सा नहीं लिया।”

“अरे इसका राजनीति से क्या लेना-देना?”

“यह मुझे नहीं मालूम। लेकिन बच कर चलना ही बेहतर है। मैं नहीं चाहता कि कल को मुझे कोई इसलिए भला-बुरा कहे कि मैंने यह बात लिखकर तुम्हें दे दी है।”

“किसी को कानों कान खबर नहीं होगी। मैं आज रात को ही इस कागज को ताले-चाभी में बंद कर दूँगा।”

“और अगर किसी ने तुम्हारे घर में सेंध लगा दी, तब? तब तो मैं अच्छी-खासी मुसीबत में फँस जाऊँगा।”

“अगर कोई मेरे घर में सेंध लगा भी दे तो क्या इससे दो-दूनी चार होना बंद हो जाएगा।”

“मेरी जान खाना छोड़ो। मैं इसे लिख कर तुम्हें नहीं दूँगा और इससे आगे कोई बात नहीं हो सकती।”

“सुनिए, मुझे एक ख्याल आया है। मैं भी आपको एक कागज पर लिखकर दे दूँगा कि दो दूनी चार होता है। उस हालत में आप पर कोई खतरा नहीं होगा।”

“इसकी जरूरत नहीं। हाँ, अगर तुम चाहो तो मैं यह लिखने को तैयार हूँ कि आजकल, आमतौर पर, सामान्य विश्वास के अनुसार ज्यादातर यही माना जाता है कि दो-दूनी तकरीबन चार होता है। इससे काम चलेगा?”

“नहीं।”

“तब दफा हो जाओ यहाँ से।”

“ठीक है। लेकिन इतना जान लीजिए कि मैं हर जगह यही कहता फिरूँगा कि आपके मुताबिक दो-दूनी चार होता है।”

“कहते फिरो। मैं साफ मुकर जाऊँगा।”

(हंगरी के जाने-माने व्यंग्यकार और नाटककार लात्सलो ताबी के इस व्यंग्य कथा का अनुवाद हिन्दी के वरिष्ठ कवि नीलाभ ने किया है।)

□

पर्यावरण संकट

धरती : एक वर्जित ग्रह

-जोर्ज मोनबियट

मानवता के सबसे बड़े संकट के साथ-साथ एक ऐसी विचारधारा का भी उदय हुआ, जो उस संकट के समाधान को असंभव बना देती है। 1980 के दशक के उत्तरार्द्ध में, जब यह साफ हो गया कि मानव निर्मित जलवायु परिवर्तन ने इस जानदार ग्रह और इसके निवासियों को खतरे में डाल दिया है, उसी समय दुनिया एक अतिवादी राजनीतिक सिद्धांत की गिरफ्त में आ गयी, जिसके जड़सूत्र ऐसे किसी भी हस्तक्षेप का निषेध करते हैं जो इस संकट से निजात पाने के लिये जरूरी हैं।

नवउदारवाद, जो बाजार-कट्टरपन्थ या मुक्त-बाजार अर्थव्यवस्था के नाम से भी जाना जाता है, इसका अभिप्राय बाजार को राजनीतिक हस्तक्षेप से मुक्त करना है। इसका जोर इस बात पर है कि राज्य को बाजार की हिफाजत करने, निजी सम्पत्ति की रक्षा करने और व्यापार के रास्ते की बाधाएँ हटाने के अलावा और कुछ नहीं करना चाहिए। व्यवहार

में यह चीज देखने को नहीं मिलती। नवउदारवादी सिद्धांतकार जिसे सिकुड़ना कहते हैं, वह लोकतंत्र के सिकुड़ने जैसा दिखता है- नागरिक जिन साधनों से अभिजात वर्ग की सत्ता पर अंकुश रख सकते हैं, उन्हें कम करते जाना। जिसे वे “बाजार” कहते हैं, वह वास्तव में बहुराष्ट्रीय निगमों और चरम-धनवानों का स्वार्थ ही दिखायी देता है। लगता है, जैसे नवउदारवाद केवल अल्पतन्त्र को उचित ठहराने का साधन मात्र हो।

इस सिद्धांत को पहले-पहल 1973 में चिली पर आजमाया गया था। शिकागो विश्वविद्यालय के एक पुराने विद्यार्थी ने जो मिल्टन फ्रीडमैन के अतिवादी नुस्खों में दीक्षित हुआ था, सीआईए के पैसे से जनरल पिनोचे के साथ मिल कर वहाँ इस सिद्धांत को जबरन लागू करवाया, जिसको किसी लोकतान्त्रिक देश में थोपना असंभव होता। इसका नतीजा एक ऐसी आर्थिक तबाही के रूप में सामने आया जिसमें धनी वर्ग, जिसने चिली के उद्योगों के

निजीकरण के बाद उनका मालिकाना हथिया लिया था और वहाँ के प्राकृतिक संसाधनों पर पूरी तरह कब्जा कर लिया था, लगातार समृद्ध होता गया।

इस पंथ को मारग्रेट थैचर और रोनाल्ड रीगन ने अपना लिया। अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष और विश्व बैंक ने इसे गरीब देशों पर जबरदस्ती थोपा। जब 1988 में जेम्स हानसेन ने अमरीकी सीनेट में पहली बार धरती के तापमान में भावी बढ़ोत्तरी के बारे में अपना विस्तृत मॉडल प्रस्तुत किया, तब इस पंथ को पूरी दुनिया में लागू करवाया जा रहा था।

जैसा कि हमने 2007 और 2008 में देखा (जब नवउदारवादी सरकारों को बाध्य किया जा रहा था कि वे बैंकों को उबारने से सम्बंधित अपनी नीति को त्यागें), तब किसी तरह के संकट का सामना करने की इतनी खराब परिस्थिति इससे पहले शायद ही कभी रही हो। जब कोई विकल्प न रह जाये तब तक, संकट चाहे जितना ही तीक्ष्ण हो और उसके परिणाम

चाहे जितने भी गम्भीर क्यों न हों, आत्म-घृणाशील राजसत्ता दखल नहीं देगा। लेकिन नवउदारवाद सभी तरह की मुसीबतों से अभिजात वर्ग की हिफाजत करता है।

विश्व बैंक, अंतरराष्ट्रीय ऊर्जा एजेन्सी और प्राइस वाटर हाउस कूपर जैसे हरित अतिवादियों ने इस शताब्दी के लिये चार डिग्री, पाँच डिग्री और छः डिग्री ग्लोबल वार्मिंग का जो पूर्वानुमान लगाया है, उसके चलते होने वाले पर्यावरण विनाश से बचने का मतलब होगा- तेल, गैस और कोयला उद्योग से सीधे टक्कर लेना। इसका मतलब है उद्योगों पर इस बात के लिये दबाव डालना कि वे अपने अस्सी फीसदी से भी अधिक खनिज तेल भंडार का त्याग करें, जिसे जलाये जाने से होने वाला नुकसान हमारे बर्दास्त से बाहर है। इसका मतलब है नये तेल भंडारों का पता लगाने और उन्हें विकसित करने कि कार्रवाइयों को रद्द करना, क्योंकि जब हम पहले

निश्चय ही हमें एक नयी राजनीति की रूपरेखा तैयार करनी होगी- जो जन हस्तक्षेप को न्यायसंगत मानती हो, जिसमें बहुराष्ट्रीय कम्पनियों द्वारा बाजार को मुक्त कराने के धिनौने मकसद से कहीं ज्यादा महान उद्देश्य अन्तर्निहित हो, जो मुट्ठी-भर उद्योगों को खास तरजीह देकर उन्हें बचाने के बजाय, आम जनता और इस सजीव संसार के अस्तित्व को ज्यादा अहमियत देती हो। दूसरे शब्दों में, एक ऐसी राजनीति जो हमारी अपनी हो, न कि मुट्ठी भर चरम अमीर तबके के लिए।

वाले भण्डार का ही इस्तेमाल नहीं कर सकते, तो नया खोजने से क्या फायदा? और इसका मतलब होगा ऐसे किसी भी नये संरचनागत ढाँचे के निर्माण (जैसे- हवाई अड्डे) पर रोक लगाना, जिसे बिना तेल के चलाना ही सम्भव न हो।

लेकिन आत्म-घृणाशील राजसत्ता कोई कार्रवाई कर ही नहीं सकती। जिन स्वार्थों से लोकतंत्र को बचना चाहिए, उनकी गिरफ्त में होने के चलते वे केवल बीच सड़क पर बैठे, कान खोदते और मूँछ ऐंठते रहेंगे, जबकि धड़धड़ करता ट्रक उनकी ओर आता जायेगा। टकराहट वर्जित है, कार्रवाई करना प्राणघातक पाप है। आप चाहें तो कुछ पैसे वैकल्पिक ऊर्जा पर बिखेर सकते हैं, लेकिन पुराने कानूनों की जगह कोई नया कानून नहीं बना सकते।

बराक ओबामा उस नीति को आगे बढ़ाते हैं जिसे वे “सबसे श्रेष्ठ” बताते हैं- हवा, सौर, तेल और गैस को प्रोत्साहन देना। ब्रिटिश जलवायु परिवर्तन सचिव, एड डेवी पिछले हफ्ते सामान्य सदन में ऊर्जा बिल पेश करते हैं, जिसका उद्देश्य ऊर्जा आपूर्ति को कार्बन रहित बनाना है। उसी बहस के दौरान वे वादा करते हैं कि वे उत्तरी सागर और दूसरे विदेशी तेल कुओं में तेल और गैस के उत्पादन की “क्षमता को बढ़ाएँगे।”

लॉर्ड स्टर्न ने जलवायु परिवर्तन को परिभाषित करते हुए कहा था कि “यह बाजार व्यवस्था की ऐसी विराटतम और व्यापक दायरे वाली असफलता है, जो पहले कभी देखने में नहीं आयी थी।” जून में बेमतलब का पृथ्वी सम्मेलन, दोहा में आजकल जिस पर बहस हो रही है वे बोदे उपाय, ऊर्जा बिल और ब्रिटेन में पिछले हफ्ते जारी बिजली की माँग घटाने से सम्बंधित परचा (बेहतर होता कि ये सारे उपाय समस्या की गंभीरता के मद्देनजर इतने गये-गुजरे न होते), ये सब कुछ बाजार कट्टरपंथ की विराटतम और व्यापकतम असफलता को बेनकाब करते हैं- यह हमारे अस्तित्व से जुड़ी इस समस्या को हल करने में इस व्यवस्था की अक्षमता को दर्शाता है।

हजार वर्षों की विरासत में मिला मौजूदा कार्बन उत्सर्जन ही मानव सभ्यता से मिलती-जुलती किसी भी चीज को चकनाचूर कर देने के लिये काफी है। जटिल समाजों ने समय-समय पर साम्राज्यों के उत्थान-पतन, प्लेग, युद्ध और अकालों को झेल लिया। वे छः डिग्री जलवायु परिवर्तन को नहीं झेल पायेंगे जिसे शहसाब्दी तक जारी रहना है। 150 वर्षों के विस्फोटक उपभोग की एवज में, जिसके ज्यादातर हिस्से का मानवता की भलाई से कोई लेना-देना नहीं रहा, हम प्राकृतिक विश्व और उस पर निर्भर मानवीय व्यवस्था को खंड-खंड बिखेर रहे हैं।

दोहा जलवायु शिखर (या तलहटी) वार्ता तथा नये उपायों के बारे में ब्रिटिश सरकार की चीख-पुकार से यह थाह लग जाती

है कि मौजूदा राजनीतिक कार्रवाइयों की कितनी सीमाएँ हैं। आप आगे बढ़ें नहीं कि सत्ता के साथ आपकी प्रतिज्ञा भंग हुई, दोनों तरह की प्रतिज्ञाएँ- चाहे वह परदे के पीछे की गयी हो या नवउदारवादी पंथ द्वारा उसे मान्यता मिली हो।

नवउदारवाद इस समस्या की जड़ नहीं है। अक्सर इस विचारधारा का इस्तेमाल बेलगाम अभिजात वर्ग द्वारा दुनिया के पैमाने पर सत्ता, सार्वजनिक सम्पत्तियों और प्राकृतिक संसाधनों पर कब्जा जमाने को उचित ठहराने के लिए किया जाता है। लेकिन इस समस्या का तब तक समाधान नहीं किया जा सकता जब तक एक प्रभावशाली राजनीतिक विकल्प के जरिये इस सिद्धांत को चुनौती नहीं दी जाती।

दूसरे शब्दों में जलवायु परिवर्तन- और वे तमाम संकट जो मानव तथा प्रकृति को अपने शिकंजे में जकड़े हुए हैं- उनके खिलाफ संघर्ष में तब तक जीत हासिल नहीं की जा सकती है जब तक एक व्यापक राजनीतिक संघर्ष न छेड़ा जाय, धनिक तंत्र के खिलाफ व्यापक जनता की जनवादी गोलबंदी न की जाय। मेरा मानना है कि इसकी शुरुआत उस वित्तीय व्यवस्था के खिलाफ सुधार अभियान के जरिये होनी चाहिए जिसके माध्यम से बहुराष्ट्रीय निगम और धनाढ्य वर्ग राजनीतिक फैसलों और नेताओं की खरीद-फरोख्त करते हैं। अगले कुछ हफ्तों के भीतर ही हमारे साथियों में से कुछ लोग ब्रिटेन में एक याचिका दायर करके इस मुहिम की शुरुआत करेंगे। मुझे यकीन है कि आप उस पर जरूर हस्ताक्षर करेंगे।

लेकिन यह तो एक विनम्र शुरुआत भर होगी। निश्चय ही हमें एक नयी राजनीति की रूपरेखा तैयार करनी होगी- जो जन हस्तक्षेप को न्यायसंगत मानती हो, जिसमें बहुराष्ट्रीय कम्पनियों द्वारा बाजार को मुक्त कराने के धिनौने मकसद से कहीं ज्यादा महान उद्देश्य अन्तर्निहित हो, जो मुट्ठी-भर उद्योगों को खास तरजीह देकर उन्हें बचाने के बजाय, आम जनता और इस सजीव संसार के अस्तित्व को ज्यादा अहमियत देती हो। दूसरे शब्दों में, एक ऐसी राजनीति जो हमारी अपनी हो, न कि मुट्ठी भर चरम अमीर तबके के लिए।

(4 दिसम्बर को गार्जियन में प्रकाशित लेख का आभार सहित प्रस्तुति।) □

जेल से सुनीलम का खुला पत्र

(मध्य प्रदेश किसान संघर्ष समिति के नेता सुनीलम को दो साथियों सहित आजीवन कारावास की सजा सुनायी गयी है। जेल से लिखे इस पत्र में सुनीलम ने कांग्रेस और भाजपा सरकार की कारपोरेट घरानों के साथ साँठ-गाँठ और आन्दोलनकारी नेताओं का खुलासा किया है।)

प्रिय साथियो,

आपको फैसेले के सम्बन्ध में पता चल गया होगा। मुझे इंस्पेक्टर सरनाम सिंह को जलाकर मारने, टीआई एस.एन.कटारे की राइफल छिनकर जानलेवा हमला करने तथा राइफल लेकर भाग जाने तथा फायर बिग्रेड के ड्राइवर धीरसिंह की 5 बार सर पर पत्थर मारकर हत्या करने के प्रकरणों में सजा सुनायी गयी है। आप जानते ही हैं कि न ये घटनायें हुई और न ही हम इन घटनाओं में शामिल थे। मेरे साथ शेषराव सूर्यवंशी परमंडल और प्रहलाद अग्रवाल मुलताई को सजा सुनाई गयी है। प्रहलाद सेठ का दोष यह है कि उन्होंने मुझे नर्मदा धर्मशाला में तथा शेषराव का दोष यह है कि उन्होंने मुलताई गोलीचालन पर आल्हा गाया। हम तीनों मुलताई जेल में हैं। हम सजा को लेकर न तो चिंतित हैं न दुःखी। जिस तरह आजादी की लड़ाई के दौरान लाखों देशभक्तों ने सजा काटी थी, वैसे ही हमें किसान आंदोलन चलाने की सजा दी गयी है। हमें केवल सजा इसलिए दी गयी क्योंकि हमने 1997 में जब किसानों की फसलें खराब हुई तब किसानों के राजस्व के मुआवजे के लिए तथा फसल बीमा के मुआवजे के लिये किसान संघर्ष समिति गठित कर संघर्ष किया।

आप सब को याद होगा कि 12 जनवरी 1998 को कांग्रेस के तत्कालीन मुख्यमंत्री दिग्विजय सिंह ने मेरी हत्या के उद्देश्य से तथा किसान आंदोलन को कुचलने के लिये किसानों का नरसंहार कराया था। आप की दुआओं से मैं बच गया तब मुझे तथा 250 आंदोलनकारी किसानों को 66 फर्जी मुकदमों में फसाया गया था। 14 साल तक अदालत के चक्कर कटवाने के बाद फर्जी गवाहियों के आधार पर सजा करायी गयी है। अर्थात् दिग्विजय सिंह के सपने को अमलीजामा पहनाने का काम भाजपा के मुख्यमंत्री शिवराजसिंह ने किया है। अगर मुख्यमंत्री चाहते तो जिस तरह उन्होंने भाजपा कार्यकर्ताओं के 1 लाख 76 हजार मुकदमे वापस लिये, हमारे मुकदमे भी वापस ले सकते थे। लेकिन उन्होंने कांग्रेस तथा अदानी कंपनी का एजेन्ट बनकर हमें सजा करायी। जिसका मुख्य उद्देश्य यह है

कि किसान संघर्ष समिति के नेतृत्व में जो आन्दोलन पंच परियोजना, अदानी पंच पॉवर प्रोजेक्ट में किसानों की जमीने बचाने के लिये चल रहे संघर्ष को कुचला जा सके। मतलब यह कि हमें जेल भिजवाकर अदानी प्रोजेक्ट को पूरा करा सके। दूसरा उद्देश्य सजा कर मुझे चुनाव लड़ने से रोका जा सके। कुल मिलाकर सरकार की साजिश मेरा मुँह बंद करने की है। यह उल्लेख करने की जरूरत नहीं है कि यदि मैंने मुकदमे लगने के बाद आंदोलन बंद कर दिया होता, कांग्रेस अथवा भाजपा सरकार में शामिल हो गया होता तो सरकार को कोई परेशानी नहीं होती फिर न केवल मुकदमे वापस हो जाते साथ ही सत्ता सुख प्रदान करने का अवसर दिया जाता, यही लोकतंत्र का असली चेहरा है। या तो व्यवस्था के साथ समझौता कर लो या फिर मारे जाओ अन्यथा जेल में सड़ा दिये जाओगे। आप जानते हैं कि मुझ पर 7 बार कांग्रेस के शासन काल में जानलेवा हमले हुए। आठवीं बार हमला कांग्रेस के केन्द्रीय मंत्री कमलनाथ ने कराया लेकिन अदानी के गुण्डों को संरक्षण शिवराज सिंह चौहान ने दिया। अर्थात् मुझे आपकी दुआओं के चलते मारा नहीं जा सका। मैंने समझौता नहीं किया तो सजा दिलाने का काम दोनों पार्टियों ने मिलकर किया है।

मैं जानना चाहता हूँ कि आपने क्या इसीलिये भाजपा सरकार बनायी थी? क्या आपने इसीलिए कांग्रेस का विधायक बनाया था कि वे किसान आंदोलन को सदा के लिए कुचलने के उद्देश्य से मुझे सजा कराये। कांग्रेस ने ही हर तरह से बर्बाद करने का कुचक्र रचा है। याद कीजिए कांग्रेसियों ने ही पारधियों को बसाया था। कांग्रेसी नेताओं ने पुलिस से साँठ-गाँठ कर कुछ पारधी अपराधियों को संरक्षण देकर न केवल क्षेत्र के किसानों को प्रताड़ित कराया बल्कि लूट में हिस्सेदारी भी की। जब साँडिया में एक बहन का बलात्कार कर हत्या कर दी गयी, तब मैंने अपराधियों के पट्टे निरस्त करने तथा अपराधियों पर जिलाबदर की कानूनी कार्रवाई करने के लिए 12 तक का समय दिया। तब कांग्रेसियों ने एसडीओपी साकल्ले के साथ मिलकर पारधियों के घर जलाये। जब मैं 5 घंटे बाद मौके

पर चौथिया पहुँचा तो मेरी जीप जलाने की धमकी दी गयी। बाद में सीबीआई के माध्यम से मुझे फर्जी तौर पर फँसाया गया। जब ताईखेड़ा के निर्दोष किसानों को सीबीआई मारपीट कर फर्जी कहानी बनाकर हत्या के मामले में फँसा रही थी, तब कांग्रेसी विधायक ने विरोध करने के बजाय पूरे अवसर का इस्तेमाल अपनी नेतागिरी चमकाने के लिए किया। जिसके चलते अनावश्यक तौर पर 72 किसान जबलपुर जेल में बंद हुए। सीबीआई तमाम मामलों में खात्मा दर्ज करती है, कांग्रेस की कठपुतली बनकर कार्य कर रही है। सीबीआई का इस्तेमाल कांग्रेस ने किसानों को फँसाने के लिए किया अगर कांग्रेसी नेता चाहते तो किसान बच सकते थे। भाजपा की भूमिका कांग्रेस के मददगार के तौर पर आज दोनों पार्टियों के नेता मिलकर पूरे क्षेत्र में न केवल जूआ, सट्टा, शराब चलवा रहे हैं, बल्कि सभी विकास कार्यों में भारी भ्रष्टाचार किया जा रहा है, सरेंआम खाद की कालाबाजारी की जा रही है, बिजली के दाम लगातार बढ़ाकर किसानों का खून निचोड़ा जा रहा है। यहाँ तक कि दोनों पार्टी के नेताओं ने मिलकर मुलताई के राम मंदीर ट्रस्ट की जमीन तक खरीदवा दी। आप कब तक चुप बैठेंगे। क्या आप ये सब यूँ ही चलते रहने देंगे या गलत कार्यों का विरोध करेंगे? हम तीन साथियों को सजा जरूर हुई है लेकिन हमारे हौसले बुलंद हैं। अभी मुलताई गोलीचालन के और 14 मुकदमों का फैसला होना बाकी है, दोनों पार्टियाँ मिलकर उन प्रकरणों में भी सजा कराने की कोशिश करेंगी। फिलहाल हम उच्च न्यायालय में अपील करेंगे तथा जमानत का आवेदन देंगे। मुझे विश्वास है कि इसके बाद हम पुनः आपके बीच में आयेंगे तथा आपके साथ मिलकर अन्याय, अत्याचार, भ्रष्टाचार के खिलाफ संघर्ष तेज करेंगे। हमें विश्वास है कि किसान संघर्ष समिति को आपका सहयोग पूर्व की तरह मिलता रहेगा। आपको यदि लगता है कि हमें गलत फसाया गया है तो गाँव में बैठक कर इस आशय का प्रस्ताव पारित करें तथा गाँव के हस्ताक्षर कराकर मुलताई के किसान संघर्ष समिति के कार्यालय में भेजें तथा हर माह होने वाली किसान महापंचायत में शामिल हों।

आपका साथी- सुनीलम

□

न्यायतंत्र को प्रमाण पत्र

-हिमांशु कुमार

राजस्थान म. अट्टारह साल पहले एक दलित महिला भंवरी देवी के साथ गाँव के दबंग पुरुषों ने सामूहिक बलात्कार किया था। भंवरी देवी को सजा देने के लिये उसके साथ बलात्कार किया गया था। भंवरी देवी का अपराध यह था कि उसने बड़ी जाति की एक छोटी बच्ची का बाल विवाह रुकवाने की कोशिश करी थी। भंवरी देवी को गाँव म. बाल विवाह रोकने के लिये सरकार ने ही नियुक्त किया था। लेकिन सरकार ने भंवरी देवी की कोई मदद नहीं करी। राजस्थान के महिला संगठन भंवरी देवी की मदद म. आगे आये। दो साल तक महिलाएँ भंवरी के साथ अदालत जाती रहीं। अदालत म. सभी दबंग वकील इन लोगों को लहंगा पार्टी कह कर चिढ़ाते थे। तब राजस्थान म. भाजपा की सरकार थी। उस समय राजस्थान के मुख्यमंत्री भाजपा के नेता भैरों सिंह शेखावत थे। भैरों सिंह शेखावत पहले पुलिस अधिकारी रहे थे। भैरों सिंह शेखावत को भ्रष्टाचार के कारण पुलिस विभाग से बर्खास्त किया गया था और बाद वे म. चुनाव लड़ कर नेता बन गये थे। भैरों सिंह शेखावत ने कहा इस महिला को मेरे पास लाओ। मैं पुलिस म. रहा हूँ। मैं पहचान सकता हूँ कि कौन सच बोल रहा है और कौन झूठ बोल रहा है। भैरों सिंह शेखावत भंवरी देवी से मिले। मिलने के बाद मुख्यमंत्री ने कहा यह औरत झूठ बोल रही है।

अदालत ने कहा कि बड़ी जाति के लोग एक छोटी जाति की महिला के साथ बलात्कार नहीं कर सकते।

मामला सर्वोच्च न्यायालय म. गया। अट्टारह साल से भंवरी देवी इन्साफ का इंतज़ार ही कर रही हैं। मैं पिछले महीने राजस्थान गया। भंवरी देवी से भी मिला। मैंने भंवरी देवी का फोटो खींचा तो उन्होंने मुझसे पूछा कि क्यों खींच रहे हो मेरा फोटो? क्या इससे मुझे इन्साफ मिल जायेगा? मैं क्या जवाब देता? उसे क्या पता मैं भी उसी जैसा हूँ।

हमारी न्याय व्यवस्था की, हमारे लोकतंत्र की जब भी परीक्षा होती है तभी यह फेल हो जाता है। हमारा लोकतंत्र और न्याय परीक्षा म. तभी पास होंगे जब ये उन्ह. न्याय द.गे जिनके साथ हम रोज अन्याय ही करते हैं। ये आदिवासी, ये दलित ये कमजोर महिलाएँ इन्ह. जब भी न्याय देने की बात आती है तभी हमारा धर्म, लोकतंत्र और न्यायतंत्र घुटने टेक देता है।

हम जीवन भर इस देश के लोकतंत्र और न्यायतंत्र की परीक्षा ल.गे और जिस दिन इस देश की सोनी सोरी और भंवरी देवी इस देश के लोकतंत्र और न्यायतंत्र को उत्तीर्ण हो जाने का प्रमाण पत्र दे द.गी, तभी हम मान.गे कि हाँ अब आजादी आयी है। □

क्या है जो मजदूर वर्ग को क्रांतिकारी बनाता है?

-माइकल ए लेबोवित्ज

(माइकल ए लेबोवित्ज वेंकूवर (कनाडा) के साईमन फ्रेसर विश्वविद्यालय में अर्थशास्त्र के अवकाश प्राप्त प्रोफेसर और बियोड कैपिटल, बिल्ड इट नाउ, और द सोशियलिस्ट अल्टरनेटिव सहित कई पुस्तकों के लेखक हैं। यह लेख उनकी किताब बियोड कैपिटल के आने वाले ईरानी संस्करण का प्राक्कथन है। मंथली रिव्यू के प्रति आभार सहित।)

ऐसा क्या है जो मजदूर वर्ग को क्रांतिकारी बनाता है? वह हीगल का रहस्यवाद नहीं है - कि यह एक सर्वव्यापी वर्ग या निरपेक्ष आत्मा की भौंडी नकल है। ऐसा भी नहीं कि मजदूर वर्ग अपनी भौतिक स्थिति की वजह से ही क्रांतिकारी है, यानी उद्योग के पहियों को जाम कर देने के लिये कूटनीति तौर पर उसे वहाँ बहाल किया गया है।

इसमें ज्यादा हैरत की बात नहीं कि ये अच्छी-बुरी सारी व्याख्यायें बहुत थोड़े लोगों को ही कायल बना पाती हैं। निश्चय ही, कुछ ऐसे लोग भी हैं जो पहले इस बात की बहुत अच्छी तरह व्याख्या करते थे कि मजदूर वर्ग क्रांतिकारी क्यों है, लेकिन अब वे कहते हैं कि मजदूर वर्ग का समय आया और चला गया। उदाहरण के लिये, कुछ लोग यह मानते हैं कि एक जमाने में पूँजी मजदूरों को सर्केंद्रित करती थी, उन्हें एक साथ आने, संगठित होने और संघर्ष करने का अवसर प्रदान करती थी; मगर अब पूँजी ने मजदूरों को विकेंद्रीकृत कर दिया है और उन्हें एक-दूसरे के खिलाफ इस तरह खड़ा कर दिया है कि अब वे साथ मिलकर संघर्ष नहीं कर पाते। एक जमाना था, जब मजदूरों के पास खोने के लिये अपनी बेड़ियों के सिवा कुछ भी नहीं था। लेकिन अब पूँजीवाद ने उसे अपने अंदर समाहित कर लिया है, वह अब उपभोक्तावाद की जकड़बंदी में है और उसके उपभोग के सामान ही अब उसके मालिक हो गये हैं और वे ही उसका इस्तेमाल करते हैं।

जो लोग यह नतीजा निकालते हैं कि मजदूर वर्ग अब इसलिए क्रांतिकारी नहीं रह गया क्योंकि पूँजीवाद ने उसे रूपांतरित कर दिया है, वे यह दर्शाते हैं कि उन्हें मार्क्सवाद की रती भर भी समझ नहीं है। अपने संघर्षों के जरिये ही मजदूर वर्ग खुद को क्रांतिकारी बनाता है, खुद को रूपांतरित करता है। हमेशा से यही मार्क्स का दृष्टिकोण था -उनकी “क्रांतिकारी व्यवहार” की अवधारणा, जिसके दौरान

हालात भी बदलते हैं और साथ ही साथ खुद मजदूर वर्ग में भी बदलाव आते हैं। अपने संघर्षों के जरिये ही मजदूर वर्ग खुद को बदलता है। वह खुद को नयी दुनिया का निर्माण करने के लायक बनाता है।

लेकिन मजदूर संघर्ष क्यों करते हैं? मजदूरों के सभी संघर्षों में एक ही बुनियादी बात है जिसे मार्क्स “विकास के लिए मजदूरों की अपनी जरूरत” कहते हैं। हम जानते हैं कि मार्क्स का यह मानना था कि वेतन-भत्ते के संघर्ष अपने आप में अपर्याप्त हैं। लेकिन वह यह भी मानते थे कि इन संघर्षों में शामिल न होना, मजदूरों को “उदासीन, विचारहीन और कमोबेश उत्पादन के खाते-पीते उपकरण” बना देगा। मार्क्स का तर्क था कि संघर्षों के अभाव में मजदूर “उदास, मानसिक रूप से कमजोर, क्लांत और विरोध न करने वाली भीड़” बनकर रह जायेंगे। संघर्ष उत्पादन की एक प्रक्रिया हैं जो एक अलग तरह के मजदूर का निर्माण करती है, एक ऐसा मजदूर जो अपने आप को उत्पादित करता/करती है, एक ऐसे व्यक्ति के रूप में, जिसका सामर्थ्य बढ़ता है, आत्मविश्वास विकसित होता है और जिसकी संगठित होने और आपस में जुड़ने की क्षमता विस्तृत होती है। लेकिन हम ऐसा क्यों सोचते हैं कि यह संघर्ष सिर्फ वेतन-भत्ते की लड़ाई तक ही सीमित है? हर एक संघर्ष जिसमें लोग खुद ही मजबूती से डटे रहते हैं, हर एक संघर्ष जिसमें लोग सामाजिक न्याय पर जोर देते हैं, हर एक संघर्ष जिसमें वे खुद अपनी संभावनाओं और अपने विकास की जरूरत समझते हैं, उसमें शामिल लोगों के सामर्थ्य को बढ़ाते हैं।

इतना ही नहीं, ये संघर्ष हमें पूँजी के खिलाफ खड़ा करते हैं। क्यों? क्योंकि पूँजी एक ऐसा अवरोध है जो हम सब के बीच और हमारे खुद के विकास के बीच बाधा बन कर खड़ी होती है। और ऐसा इसलिये है कि पूँजी ने सारी सभ्यताओं से हासिल

उपलब्धियों को अपने कब्जे में कर लिया है, क्योंकि यह सामाजिक मस्तिष्क और सामाजिक श्रम का मालिक बन बैठी है, और यह हमारे उत्पादों को और मजदूरों के उत्पादों को हमारे ही खिलाफ खड़ा कर देती है; जिसके पीछे सिर्फ एक ही मकसद होता है, खुद का फायदा, यानी मुनाफा। अगर हमें अपनी जरूरतों को पूरा करना है और अपनी क्षमता का विकास करना है, तो हमें पूँजी के खिलाफ संघर्ष करना जरूरी है और इसी के दौरान हम मजदूर खुद को क्रांतिकारी बनाते हैं।

लेकिन हम लोग कौन हैं? वह मजदूर वर्ग कौन है जो क्रांतिकारी है? आपको पूँजी के अंतर्गत इसका जवाब नहीं मिलेगा। मार्क्स की पूँजी मजदूर वर्ग के बारे में नहीं है, सिवाय इसके कि मजदूर वर्ग उसका एक लक्ष्य है। पूँजी में जिस चीज की व्याख्या की गयी है वह है पूँजी की प्रकृति, इसका लक्ष्य और इसकी गतिकी। मगर मजदूर वर्ग के बारे में यह सिर्फ इतना ही बताती है कि कैसे पूँजी मजदूर वर्ग के खिलाफ काम करती है। और चूँकि वह मजदूर वर्ग को एक विषय के तौर पर पेश नहीं करती, इसलिए वह इस बात पर

केंद्रित नहीं है कि पूँजी अपने इस मातहत के खिलाफ कैसे लड़ती है। इसके लिये हमें मार्क्स की दूसरी रचनाओं और उनकी टिप्पणियों को देखना होगा कि कैसे पूँजीपति वर्ग मजदूरों को बाँटकर और उन्हें अलग-थलग करके अपनी सत्ता बनाये रखता है (विशेष तौर पर अंग्रेज और आयरिश मजदूरों को)। और हालाँकि मार्क्स ने स्पष्ट तौर पर टिप्पणी की है कि “पूँजी की समकालीन सत्ता” मजदूरों में नयी जरूरतें पैदा करने पर ही निर्भर है, लेकिन उन्होंने किसी भी जगह इस प्रश्न की जाँच-पड़ताल नहीं की है।

इसलिए, समकालीन मजदूर वर्ग की प्रकृति एक ऐसा महत्वपूर्ण प्रश्न है जिसका जवाब किसी किताब में नहीं ढूँढा जा सकता। हमें खुद ही इस सवाल का जवाब तलाशना होगा। आज कौन है जिसके पास पूँजी नहीं है? कौन है जो उत्पादन के साधनों

से अलग है और जो अपने अस्तित्व को बचाने के लिये पूँजी के आगे एक याचक की तरह खड़ा होता है? निश्चय ही, इसमें सिर्फ वही शामिल नहीं है जो पूँजी को अपनी श्रम शक्ति बेचता है, बल्कि वे भी शामिल हैं जो पूँजी को अपनी श्रम शक्ति बेचने में असमर्थ हैं। सिर्फ शोषित ही नहीं, बल्कि वे भी जिन्हें हाशिये पर फेंक दिया गया है। और निश्चय ही, इसमें वे भी शामिल हैं, जो बेरोजगारों की विशाल आरक्षित सेना मौजूद होने के चलते, पूँजी के विस्तार के अधीन काम करते हैं और सारा जोखिम खुद ही उठाने को मजबूर हैं, यानि जो लोग अनौपचारिक (असंगठित) क्षेत्र में अपने अस्तित्व

के लिये संघर्षरत हैं। वे फैक्ट्री में काम करने वाले पुरुष मजदूर के घिसेपिटे मानदण्ड पर भले ही खरे नहीं उतरते हों, क्योंकि यह मानदण्ड तो हमेशा से ही गलत था।

निश्चय ही, हमें मजदूर वर्ग की विविधतापूर्ण प्रकृति की पहचान करने से शुरु करना होगा। क्योंकि मार्क्स जानते थे कि मजदूर वर्ग के बीच के मतभेद पूँजी के शासन का जारी रहना सम्भव बनाते हैं। लेकिन मार्क्स यह भी जानते थे कि संघर्षों के दौरान ही हमारी एकता का निर्माण होता है। और हम अपने खुद के विकास की जरूरत

के सामूहिक लक्ष्य को पहचान कर और यह पहचान कर कि “प्रत्येक व्यक्ति का स्वतंत्र विकास सभी के स्वतंत्र विकास की जरूरी शर्त है”, उस एकता का निर्माण कर सकते हैं। हमें यह विश्वास दिलाकर कि पूँजीवाद का कोई विकल्प नहीं है, पूँजी विचारों की इस लड़ाई को जीतती आ रही है और जो लोग मजदूर वर्ग को क्रांतिकारी मानने से इंकार करते हैं, वे इस काम में पूँजी के मददगार हैं। हालाँकि, अपने विकास के अधिकार पर जोर देकर हम विचारों की इस लड़ाई को लड़ सकते हैं। मार्क्स और एंगेल्स यह जानते थे कि मजदूरों से “अपने अधिकारों के लिये लड़ने का आह्वान करना ‘उन्हें’, क्रांतिकारी, संगठित समूह में ढालने का एक साधन मात्र है।” हमारे पास जीतने के लिये एक पूरी दुनिया है वह दुनिया जिसका हम हर रोज निर्माण करते हैं। □

पूँजीवाद और “मानव स्वभाव” : एक भंडाफोड़

-जय मूर

द वेल्थ ऑफ नेशंस के सबसे मशहूर हिस्से में, जहाँ श्रम विभाजन के फायदों की चर्चा की गयी है, एडम स्मिथ यह सिद्धांत प्रस्तुत करते हैं कि “सभी मनुष्यों में समान रूप से एक चीज के बदले दूसरी चीज की लेन-देन, अदला-बदली और विनिमय की स्वाभाविक प्रवृत्ति” पायी जाती है। स्मिथ इस बात को खोल कर नहीं बताते कि क्या यह “प्रवृत्ति” मूल मानवीय स्वभाव का मामला है या जैसा कि प्रबोधनकालीन एडम स्मिथ के लिये ऐसा मानना बेहतर होता कि यह मनुष्य की अनोखी क्षमता चेतना और बोलने की क्षमता का नतीजा है। लेकिन इसी अप्रमाणित धारणा के ऊपर कि ऐसी किसी “प्रवृत्ति” का अस्तित्व है, और इसी के साथ एक और ऐसी ही अप्रमाणित धारणा को मिला कर कि अभाव की परिस्थिति में बेपनाह जरूरतों की ख्वाहिश रखने वाला “स्वामित्व चाहने वाला व्यक्तिवाद” विश्वव्यापी जन्मजात मानवीय प्रवृत्ति है, पूरा का पूरा आधुनिक नव-क्लासिकीय अर्थशास्त्र टिका हुआ है। मुख्यधारा के अर्थशास्त्र की कोई भी किताब पलट के देखिये तो आपका सामना एडम स्मिथ के प्रसिद्ध उद्धरण से होगा, जिसे पूँजीवाद और तथाकथित “मुक्त बाजार” की श्रेष्ठता के पक्ष में एक स्वयंसिद्ध प्रस्थान बिन्दु माना जाता है, क्योंकि उन फर्जी आर्थिक रूपों से इस कल्पित मानवीय प्रवृत्ति का काफी मेल बैठता है।

जिस किसी को भी इतिहास और मानवशास्त्र के गहन अध्ययन का अवसर मिला हो, जैसा कि मुझे, जो स्थान और काल से परे मानव समाजों और संस्कृतियों की चरम परिवर्तनशीलता पर मुग्ध हुआ हो और जिसने कुछ बुनियादी समानताओं और विन्यासों पर विचार किया हो (जिनके अस्तित्व को ऐतिहासिक भौतिकवाद दर्शाता है) तो उसने उपरोक्त धारणा के इस चरम कुतर्क पर ध्यान दिया होगा कि आधुनिक बुरुजुआ का जो ठेठ चरित्र है, वही सर्वव्यापी मानव चरित्र है। लेकिन इतिहास के पूरे दौर में अधिकांश मनुष्यों ने ऐसी “प्रवृत्ति” को नहीं दर्शाया है।

कई समाजों में और शायद सभी समाजों में व्यापारियों का अस्तित्व रहा है, लेकिन जिन लोगों ने भी खुद को धनी बनाने के लिये पेशे के रूप में यह काम किया, उन्हें संदेह से देखा जाता रहा है। व्यापार मुख्यतः सामाजिक हासिये पर ही किया जाता था। और, जैसा कि डेविड ग्राएवर ने “कर्ज” के राजनीतिक अर्थशास्त्र के बारे में अपनी चिरस्मरणीय रचना में दर्शाया है, अब तक ज्ञात कोई भी समाज वस्तु विनिमय पर आधारित नहीं रहा है। आधुनिक युग के पहले तक उपहार

की अर्थव्यवस्था सबसे अधिक प्रचलित थी, जिसमें समाज में चीजें एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति तक परिचालित होती थीं और कोई इस बात की गणना नहीं करता था कि उसने जो कुछ दिया उसके बदले उसी के बराबर या उससे बड़ी कोई चीज वापस मिले, यानी कोई भी व्यक्ति सम्भावित लाभ की उम्मीद नहीं करता था। “अग्रिम भुगतान” की अवधारणा इसी का आधुनिक प्रतिरूप है।

जब यूरोप के लोगों का पहले-पहल उत्तर-पश्चिमी तटवासी इंडियन (अमरीका के मूलनिवासी) लोगों से सामना हुआ तो वे यह देख कर हैरान रह गये कि वहाँ के निवासियों में धन बटोरने की अंतहीन पूँजीवादी हवस नहीं थी, बल्कि समाजिक जरूरतें पूरी करने के उद्देश्य से संग्रह करने या उपहार देकर अपनी स्थिति सुधारने की प्रथा थी और उपहार पर्व (पोट लैच) मनाने और अपनी सम्पदा को बाँट कर खत्म करने का चलन था। इसीलिए उन्होंने वहाँ के लोगों का दमन किया तथा इंडियन लोगों के मन में कार्य नैतिकता, बचत और निवेश के बारे में बुरुजुआ विचारों को ठूस-ठूस कर भर दिया। कनाडा की सरकार ने 1884 में उपहार पर्व को गैरकानूनी घोषित कर दिया; फिर भी कुछ मूलनिवासी इंडियनों ने इस “असभ्य” प्रथा को जारी रखा तो उन्हें जेल में ठूस दिया गया और उनके आनुष्ठानिक स्मरण-चिह्नों को उनसे छीन लिया गया। (उन स्मरण चिह्नों को अजायब घरों में रख दिया गया, जहाँ शीशे के खाने में पड़े-पड़े वे विस्मृति के गर्त में चले गये।) अफ्रीका में, सभी यूरोपीय उपनिवेशवादियों को एक ही तरह की निराशा का सामना करना पड़ा, जब बाजार के प्रलोभनों के जरिये वे वहाँ के मूलनिवासियों से अधिक उत्पादन के लिए कठिन श्रम नहीं करवा पाये। उल्टे हुआ यह कि अफ्रीकी ग्रामीण अगर कुछ अधिक अर्जित करने में समर्थ भी थे, जैसा कि आधुनिक युग से पहले की दुनिया के कई दूसरे हिस्से के किसान, तो वे अक्सर कम काम करना पसंद करते थे और छुट्टी का जम के मजा लेते थे। जब उन पर झोपड़ी टैक्स थोपा गया और हिंसा का तांडव किया गया, तब मजबूर होकर उन्होंने बाजार के लिए अधिक उत्पादन किया।

इसके अलावा, यह भी जरूरी नहीं कि बाजार में छोटे पैमाने की भागीदारी पक्के तौर पर पूँजीवादी मूल्यों को अपनाने की अभिव्यक्ति नहीं है, हालाँकि एक लम्बे अरसे के दौरान विचारों और कार्रवाइयों पर इसका विनाशकारी प्रभाव जरूर हुआ होगा। लोगों ने “परम्परागत” सामाजिक उत्पादन के लिये “एक चीज के बदले दूसरी चीज की

लेन-देन, अदला-बदली और विनिमय” करने का फैसला लिया होगा और जरूरी नहीं कि इसके पीछे मुनाफा कमाना और “तरक्की करना” उनका उद्देश्य रहा हो। उपहार की अर्थव्यवस्था भी उसी के साथ-साथ या बाजार अर्थव्यवस्था के साथ तालमेल करते हुए चलती रही होगी। उत्तरी-पश्चिमी तटवासी अमरीकी मूलनिवासी यूरोप के साथ ऊन और मछली का व्यापार करते थे, ताकि बदले में वे अपने उपहार पर्व (पोट लैच) के लिये अनोखी वस्तुएँ हासिल कर सकें।

हाल ही में मैंने एक दिलचस्प किताब पढ़ी- *द डिस्कवरी ऑफ फ्रांस : ए हिस्टोरिकल ज्योग्राफी फ्रॉम द रेवोल्यूशन टू द फर्स्ट वर्ल्ड वार*, जिसके लेखक ग्राहम रोब हैं। इसमें विस्तार से यह बताया गया है कि प्रांतीय फ्रांस में रोजमर्रा का जनजीवन कैसा था और आधुनिकता के उभार के बाद उसमें किस तरह बदलाव आया। यह ठीक वही समय था जब व्यावहारिक रूप से अब तक अपनी कीमत पर पूरी जिन्दगी गुजारते आ रहे ग्रामीण लोग, अमूमन हैरत और नाउम्मीदी के साथ देख रहे थे कि अब वे “फ्रांस” नामक एक कहीं बड़े सत्ता के अंग हैं। एक छोटी सी कहानी खास तौर पर मेरे दिमाग में बस गयी है- ऑरजेनिया इलाके में महिलाओं का एक समूह कपड़ों की सिलाई-बुनाई के लिये एकत्र होता था जहाँ दूसरों के लिए काम करने के बदले घुमंतू व्यापारी उनको बहुत ही थोड़े पैसे देते थे। लेकिन वहाँ मामला पैसा कमाने का था ही नहीं। असली बात शाम होने के बाद भी घर से बाहर निकलने और आपसी मेलजोल की थी। कपड़ों की सिलाई-कढ़ाई से जितने पैसे मिलते थे वे तो चिराग जलाने के लिये तेल खरीदने में ही लग जाते थे। रोब कहते हैं कि इन महिलाओं जैसे लोगों के व्यवहार को प्रेरित करने वाला कारक किसी आर्थिक जरूरत से कहीं ज्यादा अपनी ऊब मिटाना होता था।

ऐसे ही कई और उदाहरण दिये जा सकते हैं जो दिखाते हैं कि एडम स्मिथ ने मानव जाति का जो काल्पनिक खाका बनाया है उसमें अधिकांश मनुष्य फिट नहीं बैठते, न तो स्वाभाविक रूप से और न ही “तर्क” का अभ्यास करने से। जैसा कि कार्ल पोलान्स्की ने *द ग्रेट ट्रांसफॉर्मेशन* में दिखाया है, मानव समाज विभिन्न प्रकार की आर्थिक तार्किकताओं का वाहक रहा है; सब को उन्होंने इन समूहों में रखा है- परस्पर लेन-देन, पुनर्वितरण, परिवार के उपभोग के लिए उत्पादन और बाजार व्यवस्था। बाजार व्यवस्था की प्रधानता से पहले की अर्थव्यवस्थाएँ अकेले व्यक्ति की सत्ता नहीं होती थीं। बावजूद इसके कि वहाँ विभिन्न स्तरों में विभाजित समाजों और अधिक समानता वाले समाजों में अंतर मौजूद था, सभी अर्थव्यवस्थाएँ सामाजिक सम्बन्धों में “सन्निहित” या “अंतर्गुम्फित” थीं और सम्मान जैसी नीतियों पर आधारित थीं- सीधे निजी आर्थिक स्वार्थों से उनका कोई लेना-देना नहीं था। पोलान्स्की दर्शाते हैं कि किस तरह “एक चीज के बदले दूसरी चीज की लेन-देन, अदला-बदली और विनिमय,” जो इस हद तक समाज

की चारित्रिक विशेषता बन गये हैं, इंग्लैण्ड में, जो कि इनका मुख्य उद्भव स्थल है, स्वाभाविक रूप से नहीं आये थे। 18वीं सदी के उत्तरार्ध और 19वीं सदी की शुरुआत (जो इस किताब का शीर्षक है) में मुक्त व्यापार अर्थव्यवस्था के सिद्धांतों की आड़ में कठोर कानूनों की एक पूरी शृंखला को जबरन लागू करके ही इसे संस्थाबद्ध किया गया था। पूँजीवादी सम्पत्ति सम्बन्धों और पूँजीवादी मानदंडों को थोपने और बनाये रखने में राजसत्ता ने केन्द्रीय भूमिका निभायी थी और आज भी निभा रही है।

अच्छी हैसियत वाले पूँजीपतियों और मुख्यधारा के पूँजीवादी समर्थक अर्थशास्त्रियों की निगाह में निजी स्वार्थों को अधिकाधिक बढ़ाने वाले व्यवहारों के अलावा सभी तरह के आचरण “अतार्किक” होते हैं। स्कूलों में “व्यापार में कैसे सफल हों” के बारे में तो ढेर सारे पाठ्यक्रम होते हैं, लेकिन सहकारी समितियों का गठन और संचालन करने से सम्बन्धित या शोषणकारी और अलगाव का शिकार बनाने वाली “मुक्त बाजार” प्रक्रिया के किसी दूसरे विकल्प के पाठ्यक्रम शायद ही होते हों।

आश्चर्य की बात नहीं कि इस माहौल में एक सामूहिक सुर उभरता है जो किसी भिन्न राय पर विचार करते हुए उसे विदेशी और ‘काल्पनिक’ बताता है और कहता है कि इसे तो असफल होना ही है। लेकिन हम यह पूछ सकते हैं कि हमारा यह समाज कितना तार्किक है जहाँ धनी और गरीब के बीच, 1 प्रतिशत और 99 प्रतिशत के बीच विकराल और विस्मयकारी असमानता मौजूद है, जहाँ एक अरब लोग रोज भूखा सोते हैं, जबकि बेलगाम विकास और उसे टिकाये रखने के लिए बेशुमार उपभोग की आदत ने समूची पृथ्वी के पर्यावरण को तबाह कर दिया और इसके विनाश का खतरा पैदा कर दिया है?

हालाँकि आधुनिक काल से पहले या उसके शुरुआती युग के लोगों का रूमानी चित्र खींचना उचित नहीं, फिर भी रोब ने कंगाली की गर्त में पड़े, अनिश्चितता में डूबे फ्रांसीसी किसान का वर्णन किया है जो कुर्क अमीन या मूसलाधार बारिश का इंतजार करता थरथर काँपता रहता था। कितना अच्छा होता कि पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली के चलते उत्पादन क्षमता में जो अद्भुत वृद्धि हुई है, उसका संचालन एक समकालीन “सहकारी राष्ट्रमण्डल” के जरिये होता, जो पूँजीवादी निजी मुनाफाखोरी से नहीं, बल्कि उपहार अर्थव्यवस्था और इतिहासकारों द्वारा वर्णित मानवीय किस्म की मूल्य-मान्यताओं से प्रेरित होता।

(जय मूर एक रेडिकल इतिहासकार हैं। वेरमोंट के ग्रामीण इलाके में रहते हैं और जब कभी काम मिल जाता है तो पढ़ाने का काम करते हैं। मंथली रिव्यू से आभार सहित।) □

खुदरा व्यापार में विदेशी दैत्यों को न्योता

अमरीकी साम्राज्यवाद एक ऐसा दैत्य है जो पिछले 25 सालों से हमारे देश में कहर ढा रहा है। इसे आमंत्रित करने वाले हमारे देश के धूर्त और कायर शासक रोज-ब-रोज इस दैत्य के आगे आम जनता की बलि चढ़ा रहे हैं। पिछले दिनों जनता के विरोध को अनदेखा करते हुए सरकार ने 4 करोड़ से ज्यादा खुदरा व्यापारियों की जिंदगी को इस दैत्य की भेंट चढ़ाने का फैसला लिया। संसद में इस दौरान पक्ष-विपक्ष की पार्टियों में हुई नूरा-कुशती भी पूरे देश ने देखी जिससे यह बात और भी ज्यादा पुख्ता हो गयी कि सभी पार्टियों में बस नाम का अंतर रह गया है। सभी पार्टियाँ दिलो-जान से दैत्य कि सेवा में लगी हुई हैं।

आज वालमार्ट, मेट, मेट्रो, टेस्को, केयरफोर जैसी दैत्याकार कम्पनियाँ अपने भारतीय सहयोगियों -भारती, टाटा, बिडला, रिलाइंस इत्यादि के साथ मिलकर खुदरा व्यापार में घुस चुकी हैं। वालमार्ट इस क्षेत्र की सबसे विराट अमरीकी कम्पनी है। पिछले दिनों अमरीकी सिनेट में इस बात का खुलासा हुआ था कि इस कम्पनी ने भारत में अपने पक्ष में माहौल बनाने पर 125 करोड़ रुपये खर्च कर चुकी है। वालमार्ट चाहती थी कि अमरीकी सरकार खुदरा व्यापार में विदेशी निवेश को खोलने के लिये भारत सरकार की बाँह मरोड़े। वालमार्ट छोटे व्यापारियों को उजाड़ने, अपने कामगारों को बेहद कम वेतन देने, श्रम कानूनों का खुलेआम उल्लंघन करने और उत्पादकों से कम कीमत पर माल खरीदने के लिए पूरी दुनिया में बदनाम है। कम वेतन पर ज्यादा काम लेने कि धूर्ततापूर्ण चालों से परेशान वालमार्ट के मजदूर आंदोलन छेड़े हुए हैं। इसकी तबाही मचाने वाली कारगुजारियों से आजिज आये अमरीकी इसे “वेन्टोविले का दानव” कहते हैं। यह कम्पनी अमरीकी साम्राज्यवाद का दर्पण है जिसमें सकल घरेलू उत्पाद बढ़ने के बावजूद जनता कि जिंदगी लगातार बदतर होती जा रही हैं। खुदरा क्षेत्र में उतरी बाकी कम्पनियों की दास्ताँ भी वालमार्ट से अलग नहीं है।

भारत का कुल खुदरा व्यापार लगभग 21,75,00 करोड़ है। इससे लगभग 4 करोड़ परिवारों का भरण-पोषण होता है। इसमें संगठित व्यापार जैसे -मॉल, सुपर बाजार, मेगामार्ट केन्द्रीय भंडार, बड़े-बड़े शो-रूम आदि का हिस्सा केवल 5 प्रतिशत है। बाकी 95 प्रतिशत हिस्सा किराना दुकानदार, खोखा, ठेला-खोमचा, फड़, हाट बाजार, मेला और फेरीवालों का है। इसी विशाल बाजार पर देशी-विदेशी दैत्यों की नजर गड़ी है। वालमार्ट का कुल कारोबार भारत के कुल खुदरा व्यापार से थोड़ा ही कम है। जबकि यह महज

15 लाख लोगों को ही रोजगार देता है। कोई भी अनुमान लगा सकता है कि खुदरा व्यापार में आने वाली ये कम्पनियाँ करोड़ों लोगों की रोजी-रोटी छीन लेंगी। ऐसे में इन कम्पनियों के आने से करोड़ों नये रोजगार पैदा होने का सरकारी दावा अपने परिवार का पेट पाल रहे 4 करोड़ लोगों के खिलाफ क्रूर मजाक है।

खुदरा व्यापार में विदेशी निवेश से किसानों को होने वाले फायदे गिनवाते हुए सरकार का कहना है कि इससे बिचौलिए खत्म हो जायेंगे और किसान को फसल का ज्यादा दाम मिलेगा। लेकिन यह तो कोई भी समझ सकता है कि देशी खुदरा व्यापार में घुसने के लिये लाखों रुपयों की लॉबिंग कर सात समन्दर लॉब कर आने को बेचैन ये दैत्य कितनी भलमनसाहत से बिचौलियों के हटने से होने वाले मुनाफे को किसान की झोली में डालेंगे। वैसे वालमार्ट तय कर चुकी है कि वह किसानों से सीधे फसल नहीं खरीदेगी। क्योंकि भारत में किसानों बहुत छोटी और बिखरी हुई है। सीधे किसानों से फसल खरीदने के लिए उसे श्रमिक यातायात और भण्डारण के मद में ज्यादा खर्च उठाना होगा, जिससे उसका मुनाफा कम होगा। इसके लिए वह स्थानीय कम्पनियों से समझौते कर रही है। ये सप्लायर छोटे-मोटे बिचौलियों को बाहर धकेल कर खुद ही बिचौलिए बन बैठेंगे। ये सप्लायर कम्पनियाँ छोटे व्यापारी और उनकी मंडियों को तबाह कर अपना एकाधिकार कायम करने के लिए दो-चार साल तक तो किसानों को थोड़े अधिक दाम दे सकती हैं। लेकिन ऐसा होने के बाद किसान सिर्फ उन्हीं कम्पनियों को अपना माल बेचने पर मजबूर हो जायेंगे। इन्हीं कम्पनियों के इशारों पर सरकार फसल का न्यूनतम समर्थन मूल्य पहले ही खत्म कर चुकी है। इस स्थिति में ये कम्पनियाँ बेलगाम होकर तबाही मचाने को आजाद होंगी।

दूसरा महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि ये कम्पनियाँ 70 प्रतिशत माल विदेशों से खरीदने को आजाद हैं। बाकी 30 प्रतिशत माल भी वे बड़े उत्पादकों से ही खरीदेंगी। वाशिंगटन आम सहमति के चलते अमरीकी निर्देशों पर अमल करते हुए सरकार पहले ही किसानों को दी जाने वाली सबसिडी को काफी कम कर चुकी है, जबकि खुद अमरीका और यूरोप में किसानों को हजारों गुना सबसिडी दी जा रही है। जाहिर है कि हमारे किसान वहाँ के किसानों से मुकाबला नहीं कर पायेंगे। उनकी फसल ज्यादा सस्ती होगी और खुदरा व्यापार में लगी कम्पनियाँ उन्हीं से अपना माल खरीदेंगी। देश का किसान पहले ही संकटग्रस्त है। 40 प्रतिशत किसान खेती छोड़ना चाहते हैं। और हर रोज औसतन 40 से

ज्यादा किसान आत्महत्या करने को विवश हैं। अमरीकी और यूरोपीय साम्राज्यवादी दानव अपने संकटों को लगातार तीसरी दुनिया पर थोपते जा रहे हैं। ऐसे में ये विदेशी दानव खेतों को शमशान में बदल देंगे। यह तय है।

खुदरा व्यापार में विदेशी निवेश की इजाजत एक तरफ तो आम जनता को कंगाली के नरककुंड में झोंक देगा, वहीं दूसरी ओर यह मुट्ठीभर सरमायेदारों के लिये नयी सम्भावनाएँ भी लेकर आया है। देशी पूँजीपति इन विदेशी कम्पनियों से गठजोड़ करके इस क्षेत्र में भरपूर मुनाफा बटोरेंगे। बड़े-बड़े बिल्डर, मंदि के भय जिनकी से नींद हराम है, इन कम्पनियों के लिए जमीन उपलब्ध कराने तथा गोदाम और स्टोर बनाने में अपना उज्ज्वल भविष्य देख रहे हैं। निजी शिक्षण संस्थाएँ तो पहले से ही खुदरा मैनेजमेंट के पाठ्यक्रम शुरू कर चुकी हैं और अब करोड़ों की कमाई की बाट देख रही हैं। राजनेता पहले ही अरबों की घूस खा चुके हैं। अभिनेता, मॉडल

और क्रिकेट खिलाड़ी इन कम्पनियों के विज्ञापन के लिए लालायित हैं।

व्यापार के लिए आयी ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने 200 साल तक भारत को गुलाम बनाया था। जयचंदों और मीरजाफरों की वंशज हमारी सरकारें पहले ही सैकड़ों कम्पनियों से दुरभिसंधी कर उन्हें देश में घुसकर लूट की खुली छूट दे चुकी हैं। नयी आर्थिक नीतियों के नाम पर देश को नयी गुलामी की जंजीरों में जकड़ा जा चुका है। यह नयी आर्थिक गुलामी साफ-साफ दिखायी नहीं देती, लेकिन यह पहले की प्रत्यक्ष गुलामी से भी ज्यादा कष्टप्रद और क्रूर है। पिछले 20-25 सालों के हालात से इस नयी गुलामी को समझा जा सकता है। आज देशी-विदेशी लुटेरे सरमायेदारों की एकता मजबूत है। लेकिन मेहनतकश जनता का संगठित संघर्ष उनका मुकाबला कर सकता है। □

आखिर साम्प्रदायिक हिंसा क्यों ?

इस बार दंगा बहुत बड़ा था
खूब हुई थी खून की बारिश
अगले साल अच्छी होगी
फसल मतदान की।

-गोरख पाण्डेय

देश में चुनाव की घोषणा होते ही राजनीतिक पार्टियाँ साम्प्रदायिकता का जहर फैलाना शुरू कर देती हैं। भूख, महँगाई और बेरोजगारी से त्रस्त जनता को जाति-धर्म के झगड़ों में उलझाकर वोट के सौदागर अपनी जीत पक्की करने के लिये दंगे कराते हैं और लाशों पर चुनावी रोटियाँ सेंकते हैं। उत्तर प्रदेश में पिछले 22 महीनों में 184 से भी ज्यादा साम्प्रदायिक हिंसक वारदातें हुई हैं जिसमें 46 लोगों की मौत हुई। गृह मंत्रालय के मुताबिक 100 से ज्यादा साम्प्रदायिक वारदातें सिर्फ जनवरी से अक्टूबर 2012 में हुई जिनमें 34 लोगों की मौत हुई और 450 से ज्यादा लोग घायल हुए। अभी हाल में ही कई राज्यों में चुनाव हुए। 2014 में देश भर में होने वाले लोक सभा चुनावों की तैयारी भी पूरे जोर-शोर से चल रही है। इसलिए देश में साम्प्रदायिक दंगे होने लगे हैं। महाराष्ट्र में 2011 में 88 और 2012 में 83 जगह साम्प्रदायिक दंगे हुए जिनमें 28 लोग मारे गये, वहीं मध्य प्रदेश में 2011 में 81 और 2012

में 78 जगहों में 26 लोग मारे गये। कर्नाटक में 2011 में 79 और 2012 में 54 जगहों पर दंगे हुए जबकि गुजरात में भी वर्ष 2011 में 47 जगहों और 2012 में 50 जगहों पर दंगे हुए।

इस तरह वर्ष 2012 में सिर्फ जनवरी से अक्टूबर तक 10 महीनों में पूरे देश में 560 से भी ज्यादा जगह साम्प्रदायिक दंगे हुए जिनमें 89 लोगों की मौत हुई और वर्ष 2011 में 580 जगहों पर हुए दंगों में 91 लोगों की मौत हुई। देश में पिछले 22 महीनों में 1140 से भी ज्यादा जगहों पर साम्प्रदायिक हिंसा में 190 लोगों की जान गयी और हजार से भी ज्यादा लोग घायल हुए। दंगों के दौरान हताहत लोगों के दम पर राजनीतिक पार्टियाँ और उनके नेताओं ने अपनी ताजपोशियाँ की। लेकिन जितने बड़े रूप में ये लाशों के व्यापारी व्यापार करना चाहते थे, वह घृणित मंशा आवागम ने पूरी नहीं होने दी। इन सियासी पार्टियों की लाख कोशिशों के बावजूद जनता ने फैजाबाद, सीतापुर, बरेली, गाजियाबाद व अन्य जगहों पर अपनी एकता, समझदारी और सूझ-बूझ से उनको नाकाम कर दिया और उनकी चालों को कोई बड़ा रूप नहीं लेने दिया। यह एक सकारात्मक प्रयास है। □

स्वास्थ्य बीमा योजना : एक खुली लूट

गरीबों को मुफ्त इलाज की सुविधा देने के नाम पर सरकार ने 2008 में राष्ट्रीय स्वास्थ्य बीमा योजना (आरएसबीवाई) शुरू की थी। इस योजना में सरकारी खर्च पर गरीबी रेखा से नीचे के लोगों को अधिकतम तीस हजार रुपये तक के इलाज का प्रावधान है। यह इलाज सिर्फ निजी (प्राइवेट) अस्पतालों में ही हो सकता है। निजी अस्पताल इलाज में हुए खर्च का बिल बनाकर बीमा कंपनी को देते हैं जिसका भुगतान सरकार करती है।

ऊपर-ऊपर देखने पर लगता है कि सरकार ने यह योजना लागू करके गरीबों पर बहुत उपकार किया है। अब कोई भी गरीब इलाज के अभाव में दम नहीं तोड़ेगा। लेकिन सच्चाई कुछ और ही है। पहली बात, इसमें देश की कुल आबादी के सिर्फ छब्बीस फीसदी हिस्से (बीपीएल) को ही शामिल किया गया है। जबकि देश की 77 प्रतिशत आबादी 20 रुपये रोज पर जिंदगी गुजारने को मजबूर है। लेकिन आँकड़ों की बाजीगरी से सरकार ने गरीबों की आबादी को 26 प्रतिशत में समेट दिया है। क्या बाकी लोगों के लिए दिनों-दिन महँगे होते इलाज का खर्च उठाना सम्भव है? दूसरा, पूरे देश में दो हजार लोगों पर एक चिकित्सक है, कई राज्यों में तो पाँच हजार लोगों पर एक चिकित्सक उपलब्ध है। क्या इतनी कम संख्या से गरीबों को चिकित्सा सुविधा उपलब्ध होना सम्भव है?

सरकार ने 2012-13 में इस योजना का बजट तीन सौ सात करोड़ से बढ़ाकर एक हजार पाँच सौ करोड़ कर दिया। निजी अस्पताल और बीमा कंपनियाँ आपस में साँठ-गाँठ करके इस पैसे को हथिया रही हैं। क्या इस योजना से गरीबों का इलाज हो रहा है?

सभी जानते हैं कि गंभीर बीमारियों का इलाज तीस हजार में नहीं हो सकता। दूसरी ओर फर्जी बिल बना कर रकम वसूलने का काम भी जोरों पर है। छत्तीसगढ़ के एक अस्पताल ने छह साल की एक लड़की का प्रसव कराने का बिल पेश किया तो झारखंड की एक निजी अस्पताल ने बीमा की रकम हड़पने के लिए गैर जरूरी रूप से रोगी की सर्जरी करा दी। बिहार के एक अस्पताल ने तो तीन महीने के एक बच्चे की आँखों में कॉन्टैक्ट लेंस लगाने का रिकॉर्ड बनाया।

स्वास्थ्य बीमा की रकम हड़पने के लिए सबसे निंदनीय घपला महिलाओं के प्रसव के मामलों में हो रहा है। साधारण प्रसव पीड़ा में भी निजी अस्पतालों के लालची भेड़िये महिलाओं का पेट चीर देते हैं, क्योंकि इन अस्पतालों को गरीबों के इलाज की नहीं बल्कि बीमा के तीस हजार रुपये हड़पने की चिंता रहती है। इसलिए

स्वास्थ्य बीमा की रकम हड़पने के लिए ये तरह-तरह के फर्जी बिल और बिना वजह ऑपरेशन कर रहे हैं।

भारतीय बीमा नियमन संस्थान के मुताबिक बीमा कंपनियों के पास स्वास्थ्य बीमा क्षतिपूर्ति के दावों की संख्या पचास फीसदी से भी कम है। एक बड़ी बीमा कंपनी ने इन क्षतिपूर्ति दावों की संख्या मात्र इकतीस फीसदी बतायी है। यानी सरकार ने सौ गरीबों के लिए बीमा रकम दी, लेकिन निजी अस्पतालों ने इकतीस लोगों की ओर से ही क्षतिपूर्ति का दावा किया उनमें से अधिकांशतः फर्जी थे। इस तरह बाकी का सारा पैसा बीमा कंपनियाँ हजम कर गयीं।

गरीबों के इलाज के नाम पर इस सरकारी धनवर्षा को डकारने के लिए देश-विदेश की चौदह बड़ी बीमा कंपनियाँ मैदान में हैं। सरकार जिन गरीबों के नाम पर पैसा बहा रही है, उनको पता भी नहीं कि स्वास्थ्य बीमा योजना किस चिड़िया का नाम है। यह निजी अस्पतालों और बीमा कंपनियों के प्रति सरकार की उदारता है। अगर सरकार को गरीबों के इलाज की चिंता होती तो निजीकरण को बढ़ावा देने के लिए सरकारी अस्पतालों का भट्टा नहीं बैठती।

जहाँ हकीकत में सभी गरीबों का सस्ता इलाज हो सकता है। उन सरकारी अस्पतालों की हालत पर भी एक नजर डाल लें जिनके बारे में पिछले दिनों अखबारों में खबर आयी थी। बागपत (उत्तर प्रदेश) के सीएचसी से नगला जाफराबाद की एक महिला को गंभीर बताकर उसे एक प्राइवेट अस्पताल में भेज दिया, जहाँ उसने बच्चे को जन्म दिया। खेकड़ा पीएचसी से डॉक्टर ने नौशादा नाम की महिला को वापस भेज दिया, उसने पास के ही मोबाइल टावर के कमरे में बच्चे को जन्म दिया। बागपत सीएचसी से ही गाँव शरफाबाद की सुमन को डॉक्टरों ने दिल्ली रेफर कर दिया था, जिसने रास्ते में दम तोड़ दिया। गर्भवती महिलाओं को प्रसव के दौरान खतरा बताकर सरकारी डॉक्टर हाथ खड़े कर देते हैं जबकि निजी अस्पतालों या घर पर उनकी नार्मल डिलीवरी हो जाती है। ऐसे भी काफी मामले हैं जब सरकारी अस्पतालों से दुत्कारी गयी गरीब महिलाओं ने सड़क किनारे या अस्पताल के अहाते में ही बच्चों को जन्म दिया।

गरीब जनता की जिंदगी बचाने के लिए गाँव-गाँव सरकारी अस्पताल खोलने तथा उन्हें बेहतर और उन्नत बनाने की जरूरत है। इस काम से मुँह मोड़कर सरकार स्वास्थ्य बीमा योजना पर अरबों रुपये खर्च कर रही है। यह जनता के पैसे से निजी पूँजीपतियों की तिजोरी भरने वाली योजना है। □

असम के दंगों की आग अब भी सुलग रही है

असम के कोकराझार और आसपास के जिलों में बोडो और मुस्लिम समुदायों के बीच जो हिंसक झड़पे हुई थीं उसकी आग अभी बुझी नहीं है। आये दिन वहाँ हिंसा और मौत की खबरें आती रहती हैं। तीन महीने से भी अधिक समय बीत गया लेकिन अभी तक वहाँ के 80 राहत शिविरों में 36,576 मुस्लिम और 3429 बोडों परिवार अमानवीय परिस्थितियों में दिन काट रहे हैं। जुलाई-अगस्त में हुई हिंसा में उस इलाके में 97 लोगों की जान गयी थी और लगभग 4 लाख 85 हजार लोग विस्थापित हुए थे।

जिन लोगों के घरों को लूटा गया और उनमें आग लगायी गयी थी वे वापस लौटने पर भारी संकट का सामना कर रहे हैं। सरकार ने काम चलाऊ आवास बनाने के लिये प्रति परिवार 22,700 रुपये नगद, 21 टीन की चददरें, 6 बांस और कुछ पोलिथिन सीट पुनर्वास के लिये देना तय किया है। इतने से उन परिवारों का दुबारा बसना मुमकिन नहीं लेकिन यह बेहद मामूली सहायता भी आसानी से नहीं मिलती। दूसरे, यदि वे किसी तरह रहने का ठिकाना बना भी लें, तो जीविका का कोई साधन नहीं है। दंगा प्रभावित लोगों में अधिकांश खेती से जुड़े रहे हैं। खरीफ का सीजन तो दंगों की भेंट चढ़ ही गया अब रबी की बोआई का समय भी लगता है बेकार चला जायेगा। उनके मवेशी और खेती के उपकरण दंगों की भेंट चढ़ गये हैं। सरकार की ओर से उन्हें मदद मिलने की उम्मीद नजर नहीं आती। पुनर्वास के दौरान सरकार से हर परिवार को एक महीने का राशन चावल, दाल

और नमक मिलना तय हुआ है। जाहिर है कि एक महीने इस अपर्याप्त भोजन पर गुजारा कर भी लें तो आगे का क्या होगा? उनके लिए न तो पुराने पेशे से जुड़ने की स्थिति है न जीविका चलाने का कोई और साधन ऐसे में लोग अपनी जमीन से उजड़ कर बाहरी इलाकों में विस्थापित होने और दर-दर की ठोकर खाने को मजबूर हैं।

भाजपा, असम गण परिषद और उनसे जुड़े संगठनों द्वारा मुसलमानों के खिलाफ अभियान अभी जारी है। उन्होंने राहत शिविरों में रहने वाले मुस्लिम परिवारों से स्थायी निवास के प्रभाव स्वरूप जमीन के पट्टों का कागज देने और इसकी जाँच परख के बाद ही उनके पुनर्वास की मंजूरी देने का मुद्दा उठाया, जिसका कड़ाई से पालन किया जा रहा है। यह शर्त काफी कठिन है क्योंकि अबल तो सबके पास जमीन का पट्टा नहीं है और है भी तो उसके कागजात दंगों में गायब हो गये हैं। किसी वैकल्पिक प्रमाण पत्र पर अभी तक सरकार ने फैसला नहीं लिया है। यही कारण है कि आज कैम्पों में बोडो शरणार्थियों की तुलना में मुसलमानों की संख्या दस गुने से भी ज्यादा है।

दंगों के बाद जहाँ शान्ति और आपसी मेल-जोल बढ़ाने की जरूरत है। साम्प्रदायिक ताकतें आज भी बोडो लोगों को मुसलमानों से कोई सम्पर्क न रखने के लिये उकसा रहे हैं और नफरत फैलाने वाली ऐसी ही दूसरी बातों का प्रयास कर रहे हैं। सच तो यह है कि आग साम्प्रदायिकता और फूटपरस्ती की राजनीति करने वालों ने ही भड़काई थी और आसानी से वे इसे बुझने नहीं देंगे। □

पृष्ठ 30 का शेष ...

कैंसर, मुँह का कैंसर, स्तन कैंसर, हड्डियों का कैंसर, ब्लड कैंसर सभी रूपों में यह रोग महामारी की तरह फैलता जा रहा है।

क्या इस भयानक फैलती महामारी के लिए एक व्यक्ति, परिवार या देश की जनता जिम्मेदार है? नहीं, इसकी जिम्मेदार साम्राज्यवादी नीतियाँ हैं जिनके चलते पूँजीवाद के विकास के नाम पर पूरी प्रकृति का विनाश हो रहा है, जो कैंसर जैसी महामारियों को पैदा कर रहा है। आज हमारे देश में भी हमारे रहनुमाओं ने इन साम्राज्यवादी ताकतों के आगे घुटने टेक दिये हैं और हम पूँजीवादी नीतियों की मार झेल रहे हैं।

जब तक हम इस व्यवस्था को नहीं बदलते तब तक हम इस बीमारी से ही नहीं बल्कि किसी भी तरह की बीमारी से छुटकारा नहीं पा सकते हैं? जिसकी वजह से आज पूरे देश में कैंसर महामारी की तरह फैल गया है? इसलिए अब कुछ सुधार या थोड़ा-बहुत हेर-फेर से बात नहीं बनेगी, हमें सम्पूर्णता में सोचना होगा। मुनाफे पर टिकी इस लूट की व्यवस्था में पूर्ण परिवर्तन ही इसका एकमात्र समाधान बचा है। □

पृष्ठ 33 का शेष ...

छुपी भुखमरी से होने वाली महामारी का सामना कर रहे हैं, विशेषकर बच्चों के मामले में..."

खाद्यान्न की कमी और ज्यादा कीमतों के चलते सड़कों पर होने वाले प्रदर्शनों और दंगों से इतिहास भरा पड़ा है। भोजन की कमी से गुस्ताई भीड़ ने सम्राट सिसरो (106-43 ईसा पूर्व) के निवास पर हमला बोल दिया था। फ्रांस की क्रांति से पहले वहाँ ब्रेड की कीमतें बढ़कर एक मजदूर के वेतन के 88 प्रतिशत तक पहुँच गयी थी। हाल ही में 2008 में इसी वजह से 25 देशों में दंगे भड़क गये थे।

अमरीका और गैहू के एक प्रमुख निर्यातक देश ऑस्ट्रेलिया में भयंकर सूखे ने 2013 में खाद्यान्न संकट की आशंका को हकीकत में बदल दिया है। यह संकट गरीब देशों में पहले से ही कुपोषण से जूझते लोगों को फिर से सड़कों पर ला देगा और एक बार फिर 2008 में हुए दंगों जैसे हालात पैदा कर देगा। अगर विश्व की सरकारें वक्त रहते चेत नहीं जातीं तो यह संकट और भी भयंकर रूप धारण कर सकता है। □

कैंसर किसकी देन है?

आज हमारे समाज को कैंसर नाम की एक लाइलाज बीमारी ने अपनी गिरफ्त में ले लिया है। वैसे तो देश की राजनीति, न्यायपालिका, कार्यपालिका, विधायिका, मीडिया, शिक्षा-चिकित्सा आदि सभी क्षेत्रों में कैंसर पूरी जड़े जमा चुका है।

मगर हम बात कर रहे हैं उस कैंसर की जो मुट्ठी भर लोगों के विकास के नाम पर आज अमीर-गरीब सबको निगलता जा रहा है। पहले भी टीबी, दमा, अल्सर जैसी कुछ बीमारियाँ होती थी, जिसका मुख्य कारण था पर्याप्त भोजन न मिल पाना, रहन-सहन की समुचित व्यवस्था का न होना और इन सबके बावजूद भी दिन-रात हाड़तोड़ मेहनत करना। इन बीमारियों की वजह से गरीब जनता मौत के मुँह में समाती रहती थी। हालाँकि आज भी हमें इन बीमारियों से पूरी तरह निजात नहीं मिल पाया है जबकि हमारे पास सभी चीजे प्रयाप्त मात्रा में उपलब्ध है। लेकिन पिछले 20-25 सालों में जिस बीमारी के नाम से आज भी लोगों का दिल दहल उठता है वह है कैंसर। देश भर में कैंसर से होने वाली मौतों की संख्या में अचानक तेजी से बढ़ोत्तरी हुई है। सबसे ज्यादा मौतें उत्तर प्रदेश में हुई हैं। एक आंकलन के मुताबिक पूरे देश में जितनी मौतें कैंसर से होती हैं उसमें से 25 फीसदी मौतें उत्तर प्रदेश और महाराष्ट्र में होती हैं। सरकारी नीतियों के चलते आज यह रोग खूब फल-फूल रहा है। सरमायेदारों की दैत्याकार फैक्ट्रियाँ दिन-रात जो जहरीला कचरा हमारी नदियों में बहा रही हैं, वह हमारी जीवन दायिनी नदियों के पानी को विषाक्त कर रहा है नदियों का पानी इस हद तक दूषित हो चुका है कि उसे साफ करना भी काफी मुश्किल है। आर्सेनिक जैसे रसायनों की मात्रा इतनी बढ़ गयी है पानी नहाने योग्य भी नहीं रहा। नदियों का यह दूषित पानी हवा में भी बीमारियों के कीटाणुओं को फैला रहा है जो साँस के साथ हमारे शरीर में घुसकर हमें बीमार करते हैं।

नदियों का पानी भूगर्भ जल का एक बड़ा स्रोत है। यही पानी रिसकर धरती की निचली सतह तक पहुँचता है, लेकिन नदियों के प्रदूषित होने के चलते पीने का पानी प्रदूषित हो चुका है और कैंसर जैसी घातक बीमारियों को जन्म दे रहा है। उत्तर प्रदेश में मेरठ के परीक्षितगढ़ के अतलपुर गाँव में हैंडपंप से निकलने वाले पानी का रंग सिर्फ 12 घंटे में लाल और काला हो जाता है, वही 20 घंटे में पानी वाले बर्तन में जंग लग जाता है। इसे पीकर गले बौर खून का कैंसर तेजी से फैल रहा है। जिसके चलते पिछले 3 साल में अतलपुर गाँव में 27 मौते हो चुकी हैं और 9 अन्य लोग इस जानलेवा बीमारी से जूझ रहे हैं। उत्तर प्रदेश के ही बागपत जिले के गाँव सिरसली में और आस-पास के दूसरे गाँव

भी अतलपुर की तरह कैंसर की चपेट में आ रहे हैं। यहाँ भी पानी की स्थिति उतनी ही खराब होती जा रही है जितनी अतलपुर गाँव की है।

विकास के नाम पर, पर्यावरण विनाश का जो पश्चिमी मॉडल हमारे ऊपर थोपा जा रहा है उससे मासूमों की जिंदगियाँ तबाह हो रहीं हैं। मुट्ठी भर पूँजीपतियों के निजी मुनाफे पर आधारित इस विकास के मॉडल ने आज खुद इंग्लैंड और अमरीका में कैंसर जैसी घातक बीमारी को बहुत खतरनाक स्तर पर पहुँचा दिया है। वहाँ कैंसर से मरने वालों की संख्या भारत से 16 गुणा अधिक है। मुनाफे पर आधारित पूँजीवादी व्यवस्था की अंधी दौड़ में हमारा देश बहुत देर से शामिल हुआ था लेकिन अब उन्हीं के नक्शे-कदम पर आगे बढ़ रहा है। अगर देश में पूँजीवादी व्यवस्था उतनी ही पुरानी होती जितनी अमरीका और इंग्लैंड में है तो इस बीमारी से मरने वालों की तादात 40 फीसदी ज्यादा होती। अमरीका और इंग्लैंड और अन्य विकसित पूँजीवादी देशों ने अपने यहाँ सभी तरह से पर्यावरण को जहरीला बना दिया। अब ये साम्राज्यवादी देश अपनी मुनाफे की हवस में हमारे देश में भी पर्यावरण को जहरीला बनाने की तैयारी कर चुके हैं। उनकी साम्राज्यवादी नीतियों के चलते यहाँ भी अंधाधुंध रासायनिक खादों और अत्यंत जहरीले कीटनाशकों का प्रयोग हो रहा है। जिसके चलते महिलाओं में स्तन कैंसर आज एक महामारी की तरह बढ़ रहा है। इसके अलहदा हमारे खाने-पीने की सभी वस्तुओं में भी जहर मिल गया है। जिसके चलते कैंसर जैसी महामारी का यह रोग अमीर-गरीब सभी को अपनी चपेट में लेता जा रहा है। लेकिन इसकी ज्यादा मार गरीब लोग ही झेल रहे हैं।

पिछले एक साल में उत्तर प्रदेश में 40 हजार लोग कैंसर से मरे हैं और 90 हजार कैंसर के नये मरीज सामने आये हैं। जबकि पूरे देश में यह आँकड़ा 2010 में 5 लाख 50 हजार से ऊपर पहुँच चुका है। यह भयावह तस्वीर सिर्फ उन्हीं गरीब लोगों की है जो दवाई और इलाज न मिलने के चलते हर साल कैंसर की भेंट चढ़ जाते हैं? हालत यह है कि पंजाब से गंगानगर (राजस्थान) के कैंसर अस्पताल के लिए कैंसर पीड़ितों के लिए एक स्पेशल ट्रेन ही चलती है जिसे लोग कैंसर ट्रेन के नाम से जानते हैं। आज शायद ही कोई गाँव-कस्बा या शहर ऐसा बचा हो जहाँ कैंसर के 5 से 10 मरीज न मिलते हों, किसी-किसी गाँव में तो यह संख्या 25 से 30 तक पहुँच गयी है। कैंसर नामक यह बीमारी बहुत तेजी से पूरे देश में अनेक रूपों और नामों से फैल रही है। गले का

शेष पृष्ठ 29 पर...

गरीबों का मजाक

गरीबी रेखा से नीचे श्रेणी वाले परिवारों को 600 रुपये की सहायता बाँटते हुए मुख्यमंत्री शीला दीक्षित ने कहा कि “600 रुपये में गरीब दाल, चावल और आटा खरीदेंगे। इससे पाँच लोगों के परिवार की जरूरत को आसानी से पूरा किया जा सकता है।” मुख्यमंत्री ने यह बात खाद्य सुरक्षा कार्यक्रम के तहत सबसिडी की जगह सीधे पैसे देने की सरकारी योजना पर सबसे पहले अमल करने के जलसे में कही।

गरीबों के प्रति संवेदनहीन और गरीबी की जगह गरीबों को खत्म करने पर तुली सरकार जनता को दी जाने वाली नाम मात्र की सहायता से भी अपना दामन छुड़ाने पर आमादा है। और यह काम इतने शातिराना ढंग से किया जा रहा है जैसे जनता का हक छीनने के बजाय सरकार उन्हें सदाब्रत बाँट रही हो।

सरकार का तर्क है कि जनता को दी जाने वाली सबसिडी खत्म कर उसकी जगह बैंक के जरिये सीधे आर्थिक सहायता देने से भ्रष्टाचार पर लगाम लगेगी और असली जरूरतमंद तक मदद पहुँचेगी। लेकिन गरीबों की मदद के नाम पर सरकार ने जो ठगी का काम शुरू किया है उसे समझने के लिए बहुत बड़े अर्थशास्त्री होने की जरूरत नहीं।

अगर चीजों के बाजार भाव से मुख्यमंत्री शीला दीक्षित के बयान की तुलना करें तो यह साफ हो जायेगा कि सरकार जनता को दे रही है या उससे छीन रही है। 600 रुपये प्रतिमाह की राशि पाँच लोगों के परिवार में बाँटें तो हर सदस्य के हिस्से केवल 4 रुपये हर रोज आयेगा। माननीय मुख्यमंत्री का मानना है इस 4 रुपये की मदद से एक आदमी दाल, चावल, आटा खरीद कर आसानी से जिन्दगी गुजार सकता है।

बेहयाई की सारी हदें लाँघते हुए सरकार का यह बयान जनता के प्रति उसकी हमदर्दी को साफ दर्शाता है। इससे पहले योजना आयोग ने गरीबों का मजाक उड़ाते हुए 32 रुपये प्रतिदिन (यानी 960 रुपये महीना) से ऊपर आमदनी वाले शहरी को गरीब मानने से इन्कार किया था। देश-विदेश के अंक 12 में हमने 5000 रुपये कमाने वाले एक परिवार की कहानी प्रकाशित की थी जिसमें दिखाया गया था कि सरकारी आँकड़ों से 5 गुना ज्यादा कमाने वाले एक ‘अमीर परिवार’ की वास्तविक जिन्दगी कितनी अभावग्रस्त है। सरकारी मापदण्ड जिन्हें गरीब बताते हैं उनकी हालत कैसी होगी अन्दाजा लगाना कठिन नहीं।

दसअसल इन सारी सरकारी कवायदों का मकसद खाद्य सुरक्षा चक्र को मटिया मेट करना है। आजादी के बाद खाद्य सुरक्षा

को लेकर सरकार ने सार्वजनिक वितरण प्रणाली (पीडीएस) की शुरुआत की थी। इसके तहत गाँव-गाँव में सरकारी सस्ते गल्ले की दुकानें खोली गयीं। सरकार किसानों से सीधे अनाज की खरीद करती थी और भारतीय खाद्य निगम उसका भण्डारण करती थी। फिर सस्ते गल्ले की दुकानों के माध्यम से देश भर में उसका विपणन (वितरण) किया जाता था। इससे कालाबाजारी और जमाखोरी पर भी लगाम कसना सम्भव होता था, क्योंकि जब कालाबाजारी और जमाखोरी के चलते चीजों के दाम चढ़ते थे तो सरकार अपने गोदामों से सस्ता अनाज बाजार में उतार कर बाजार भाव को नियंत्रित करती थी और खाद्य सुरक्षा को एक हद तक सुनिश्चित करती थी। यह व्यवस्था उत्पादक और उपभोक्ता दोनों के लिए फायदेमंद थी। सार्वजनिक वितरण की यह व्यवस्था सभी वर्गों के लिये उपलब्ध थी। धीरे-धीरे सरकार ने गरीबी रेखा से नीचे (बीपीएल) और गरीबी रेखा से ऊपर (एपीएल) का बंटवारा करके बड़ी संख्या में एपीएल परिवारों को सार्वजनिक वितरण के दायरे से बाहर खदेड़ दिया। यह दिलचस्प बात है कि अभी तक बीपीएल, एपीएल का कोई स्पष्ट विभाजन और सही आँकड़े नहीं हैं। गरीबी रेखा के निर्धारण के लिये सरकार अब तक तीन समितियाँ बना चुकी है। इन तीनों रिपोर्टों में काफी फर्क है। आँकड़ों के खेल से किसी को भी गरीब और किसी को भी अमीर बना दिया जाता है। सरकार भी इसी खेल से गरीबों की संख्या कम करने में जोर लगा रही है।

सबसिडी की रकम सीधे बैंक खाते में डालने की सरकारी योजना नवउदारवादी आर्थिक सुधारों की ही अगली कड़ी है। इस एक योजना से सरकार कई निशाने साध रही है। सरकारी प्रचार है कि इससे भ्रष्टाचार पर लगाम लगेगा। लेकिन राजस्थान में इस योजना का पाइलेट प्रोजेक्ट यह दर्शाता है कि साल भर में केवल तीन बार ही लाभार्थी के खाते में मदद पहुँची। इससे लोगों को फुसलाया तो जा सकता है लेकिन इस पर अमल कितना होगा यह साफ है। दूसरे यदि मौजूदा भाव की तुलना सस्ते गल्ले के भाव से करें तो निश्चित ही 600 रुपये की सरकारी मदद इसी अन्तर पर आधारित है। लेकिन बाजार भाव के उतार-चढ़ाव (चढ़ाव) से इसकी कोई तुलना ही नहीं। खाद्य पदार्थों के खुले बाजार भाव दिन-प्रतिदिन ऊपर चढ़ते जा रहे हैं। जबकि सस्ते गल्ले के भाव में स्थिरता रहती है। पैसे के प्रति मोह के चलते लोगों में इसके प्रति आकर्षण जरूर नजर आता है लेकिन दूरगामी तौर पर यह उनके लिये हानिकारक है। कारण यह कि गरीब परिवारों में ढेर सारी जरूरतें पैसे के अभाव में पूरी नहीं होती। जाहिर है कि खाद्यान्न की जगह उन मदों में पैसा

खर्च करने का सीधा असर उनकी खाद्य सुरक्षा पर पड़ेगा। उत्पादक और उपभोक्ता दोनों ही नकद स्कीम की चपेट में होंगे। सस्ते गल्ले को खत्म करने से सरकार किसानों से अनाज खरीदने की जिम्मेदारी से मुक्त हो जायेगी। किसान अनाज व्यापार में उतरी देशी-विदेशी कम्पनियों की गिरफ्त में होंगे। इसी तरह उपभोक्ता भी बाजार के हवाले होंगे। अगर अर्थशास्त्रियों की भाषा में भी बात करें तो उपभोक्ताओं को सीधे पैसा देने से बाजार में तरलता बढ़ेगी, जिससे माँग में इजाफा होगा। माँग बढ़ने से बाजार भाव भी बढ़ेगा और पहले से ही कमर तोड़ महँगाई और बढ़ती चली जायेगी।

सरकार सार्वजनिक वितरण को सीमित करके जैसे-जैसे अनाज व्यापार को बाजार की शक्तियों के हवाले करती गयी है, वैसे-वैसे खाद्यान्न के उपभोग में गिरावट आयी है। आज अनाज की उपलब्धता 1961 के 468.7 ग्राम प्रतिव्यक्ति प्रतिदिन से लुढ़क कर 438.06 ग्राम प्रतिव्यक्ति प्रतिदिन रह गयी है। दालों का उपभोग 0.84 किलोग्राम प्रतिमाह (1993-94) के स्तर से गिरकर 0.65 किलोग्राम (2009-10) रह गया है। एक स्वस्थ व्यक्ति के लिए आवश्यक 2400 कैलोरी के मानक में भी भारी गिरावट देखी गयी है। यह 1972-73 के 2266 कैलोरी के स्तर से नीचे गिरकर 2009-10 में महज 1929 कैलोरी रह गयी है।

सरकार केवल कार्बोहाइड्रेट की ही गणना करती है, शायद गरीबों के लिए प्रोटीन खाना उसके हिसाब से अनुचित है। 1993-94 में प्रतिव्यक्ति 60.2 ग्राम प्रोटीन उपलब्ध था। जो 2009-10 में घटकर मात्र 55 ग्राम प्रतिव्यक्ति प्रतिदिन रह गया। (ये सभी आँकड़े राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण संगठन के हैं।) खाद्य सुरक्षा को मुनाफा केन्द्रित बाजार के हवाले करने से पहले भी अनाज के उपभोग की स्थिति बहुत अच्छी नहीं थी, लेकिन घोषित रूप में इसे बाजार के हवाले कर दिये जाने के बाद अब तबाही का आलम क्या होगा इसका सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है।

एक अनुमान के मुताबिक अगर सार्विक खाद्य सुरक्षा कार्यक्रम के तहत देश के हर परिवार को सस्ती दर पर अनाज उपलब्ध कराना हो तो 9 करोड़ टन अनाज की जरूरत होगी जिस पर वर्तमान दर से 1,20,000 करोड़ अनुदान राशि खर्च होगी। आज भी यह अनुदान राशि 50,000 करोड़ है यानी पूरे देश के लिए भोजन की गारण्टी करने पर 70,000 करोड़ रुपये का अतिरिक्त खर्च आयेगा। पूँजीपतियों को विभिन्न मदों में दिये जाने वाले अनुदान के आगे यह राशि कुछ भी नहीं है। लेकिन ऐसा नहीं होगा। यह बाजार के मामले में सरकारी हस्तक्षेप माना जायेगा क्योंकि जब सबको सस्ता अनाज मिलेगा तो कारगिल, मोनसेन्टो, आईटीसी और वालमार्ट का क्या होगा? उनके अनाज व्यापार, वायदा कारोबार और अन्धाधुन्ध मुनाफे का क्या होगा? आर्थिक सुधारों के डोड़े

पर सवार सुल्ताना डाकू अपनी नयी भूमिका में लूटने और बाँटने का काम पूरी मुस्तैदी से कर रहा है।

इस योजना से सरकार ग्रामीण बैंकिंग व्यवस्था को भी चोर दरवाजे से बिचौलियों के हवाले कर देगी, क्योंकि आर्थिक मदद बैंक खातों में ही जानी है जबकि 6 लाख गाँवों में से महज 36 हजार गाँवों में ही बैंक शाखाएँ हैं। नयी शाखाएँ खोलने के लिए सरकार की कोई योजना नहीं है। इसके लिए वह बैंकिंग सहयोगी मॉडल पर निर्भर है। इन सहयोगियों का मुनाफा सरकारी कमीशन से तय होगा। सरकार के मुताबिक ग्रामीण क्षेत्रों में बैंकिंग सहयोगियों की मदद से पैसा निकाला जा सकेगा। हर खाता धारक द्वारा आर्थिक सहायता निकालने पर कमिशन के रूप में उसका हिस्सा उसे दिया जायेगा। सरकार इसे बैंकिंग क्षेत्र की बहुत ही महत्वाकांक्षी परियोजना मान रही है। जबकि वास्तव में यह उसकी लापरवाही है। अभी तक जो भी बैंकिंग सहयोगी रहे हैं, उनमें मुख्य तौर पर गाँव के मुखिया, सूदखोर और बड़े खाद विक्रेता हैं। इकनॉमिक टाइम्स की एक रिपोर्ट के मुताबिक पंजाब में “75 प्रतिशत बैंकिंग सहयोगी गाँव के सरपंच या उनके सगे-सम्बन्धी हैं।” बैंकिंग सहयोगी मॉडल भ्रष्टाचार में लिप्त है इसका बयान स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया के मार्च 2011 के एक आंतरिक दस्तावेज में मिलता है, जिसके मुताबिक “बैंक ने पैसा निकालने के लिए जो निश्चित भुगतान तय किया था, बैंकिंग सहयोगी जोर-जबरदस्ती कर उससे ज्यादा पैसा लेने के लिए गलत कार्रवाइयों में लिप्त हैं।” बैंक यूनियनों का कहना है कि ये बैंकिंग सहयोगी खाता खुलवाने के नाम पर 100 रुपये और सोने पर कर्ज दिलाने से पहले 150 रुपये लूट लेते हैं।

वैसे तो सरकार ने पहले ही खाद्य सुरक्षा से हाथ पीछे खींच लिये हैं, लेकिन प्रतीक स्वरूप बची सार्वजनिक वितरण व्यवस्था को पूरी तरह खत्म कर वह सार्वजनिक शब्द को ही दफन कर देना चाहती है। जब तक यह सार्वजनिक शब्द मौजूद रहेगा तब तक वह निजी मुनाफे पर आधारित बाजार अर्थव्यवस्था के सामने प्रश्न विह्वल बन कर खड़ा रहेगा और आम जनता को हमेशा इस बेहतर विकल्प की याद दिलाता रहेगा। उदाहरण के लिये सस्ते गल्ले की दुकान पर जो चीनी 13.5 रुपये किलो मिल रही है, वही खुले बाजार में 40 रुपये प्रतिकिलो खरीदते हुए लोगों को निजी मुनाफाखोरी के प्रति गुस्सा आना लाजमी है। सार्वजनिक और निजी, दो समानान्तर अर्थव्यवस्थाएँ नवउदारवादी अर्थनीति को कतई बर्दाश्त नहीं। वह सार्वजनिक क्षेत्र की बची-खुची जड़ में भी मट्टा डालकर उसे हमेशा-हमेशा के लिए खत्म कर देना चाहती है। नगद सहायता योजना भी इसी दिशा में उठाया गया एक सरकारी कदम है।

□

दुनिया पर खाद्यान्न संकट के मंडराते बादल

दुनिया भर में अनाज भंडार इतने कम हो चुके हैं कि इस साल पूरी दुनिया के ऊपर खाद्य संकट का खतरा मंडरा रहा है। खासतौर पर मध्य पूर्व और अफ्रीका पर इसका सबसे भयानक असर होगा।

बेहद खराब मौसम, सूखा और खाद्यान्न पर होने वाली सट्टेबाजी के चलते आसमान छूती कीमतें इस संकट को तेजी से बढ़ा रही हैं। इस साल कम पैदावार होने के चलते दुनिया भर में अनाज के भंडार घटकर 1974 के न्यूनतम स्तर तक आ गये हैं। अमरीका के मक्का का भंडार अब घटकर ऐतिहासिक रूप से न्यूनतम स्तर 6.5 प्रतिशत तक कम हो गया है जो अगले साल के उपभोग भर ही है। खराब मौसम और सूखे की वजह से खाद्यान्न निर्यातक देशों में अगले साल कम पैदावार होने की सम्भावना है।

संयुक्त राष्ट्र खाद्यान्न एवं कृषि संगठन (एएफओ) के आर्थिक विशेषज्ञ अब्दुल रजा अवासियन का कहना है कि पिछले 11 सालों में से 6 सालों के दौरान अनाज की पैदावार उपभोग से कम होने के चलते अनाज भंडार में भारी कमी आयी है और आज यह 10 साल पहले के औसत 107 दिन से घटकर सिर्फ 74 दिनों के लिये शेष रह गया है।

हमारे ग्रह का पर्यावरण संकट एक ऐसी सच्चाई है जिससे कोई इंकार नहीं कर सकता, फिर भी दुनिया के शासक इसके प्रति गम्भीर नहीं हैं। रियो-20 सम्मेलन में विश्व नेताओं द्वारा कोई ठोस कदम न उठा कर सिर्फ लफ्फाजी करना इसका ताजा प्रमाण है।

यह एक परेशान करने वाला तथ्य है कि कोई भी इस हकीकत से आँखे कैसे चुरा सकता है तब जब नेशनल एकेडमी ऑफ साइंस के अनुसार 97 प्रतिशत वैज्ञानिकों ने माना कि मानव-निर्मित पर्यावरण संकट वास्तविक है। यह प्रश्न 1,372 वैज्ञानिकों से पूछा गया था (यूएसए टुडे, जून 2010)।

विश्व के प्रमुख पर्यावरण विशेषज्ञों ने चेतावनी दी है कि विश्व खाद्यान्न आपूर्ति व्यवस्था कभी भी ध्वस्त हो सकती है, जिसकी वजह से लाखों-करोड़ों लोग भुखमरी का शिकार हो जायेंगे और दुनिया भर में मारामारी होगी। वाशिंगटन स्थित अर्थ शोध संस्थान के अध्यक्ष, लेस्टर ब्राउन का मानना है कि अब पर्यावरण भरोसे के लायक नहीं रह गया है और खाद्यान्न की माँग इतनी तेजी से बढ़ रही है कि यदि इसके लिये तत्काल ठोस कार्यवाही नहीं की गयी तो खाद्यान्न आपूर्ति में अवरोध आना तय है।

ब्राउन ने अपनी एक नयी किताब में लिखा है कि “खाद्यान्न की कमी ने पहले भी पुरानी सभ्यताओं को खतरे में डाला था। हम उसी रास्ते पर आगे बढ़ रहे हैं। हर देश अब सिर्फ अपनी जरूरत भर ही अनाज पैदा कर रहा है। दुनिया अब साल-दर-साल किसी तरह काम चला रही है।” उनकी यह चेतावनी ठीक उसी समय आयी है, जब संयुक्त राष्ट्र और दुनिया की दूसरी सरकारों ने रिपोर्ट दी है कि

अमरीका और दूसरे खाद्यान्न निर्यातक देशों में तेज गरमी और सूखे ने फसलों को बुरी तरह प्रभावित किया है और कीमतों को बड़ी तेजी से बढ़ाया है।

ब्राउन कहते हैं कि “हम जिस हालात में हैं वह अस्थायी नहीं है। आगे भी यही स्थिति बनी रहेंगी। पर्यावरण में लगातार गिरावट आती जा रही है और अब सुधार की कोई गुंजाइश नहीं है।”

एक तरफ जहाँ पैदावार कम होने से खाद्यान्न के भंडार में लगातार कमी आ रही है। वहीं सट्टेबाजी के चलते कीमतों में उछाल आ रहा है। गेहूँ और मक्के जैसे प्रमुख अनाजों की कीमतें उस स्तर के करीब हैं जिसके कारण 2008 में 25 देशों में दंगे भड़के थे। एफएओ के अनुसार मध्य पूर्व और अफ्रीका में 87 करोड़ लोग कुपोषण के शिकार हैं और खाद्यान्न संकट गहराता जा रहा है।

बड़े-बड़े बैंक खाद्यान्न पर सट्टेबाजी में लिप्त हैं जबकि लाखों-करोड़ों लोग भुखमरी का सामना कर रहे हैं। बर्कलेस बैंक ने पिछले दो साल में खाद्यान्न संकट का लाभ उठाकर सट्टेबाजी से 500 मिलियन पाउंड कमाये। इंग्लैण्ड का बर्कलेस बैंक तथा अमरीकी गोल्डमैन सैक्स और मॉर्गन स्टेनली खाद्यान्न मालों के व्यापार के सबसे बड़े खिलाड़ियों में से हैं।

अगस्त 2012 में एक विशाल ट्रेडिंग कम्पनी ग्लेनकोर ने विश्व खाद्यान्न संकट और बढ़ती कीमतों को एक “अच्छा” कारोबारी अवसर बताया था, जिसके लिये उसकी काफी आलोचना हुई थी।

अमरीकी कृषि विभाग के पूर्वानुमान के बाद, वहाँ के बाजारों में मक्का फ्यूचर्स की कीमतें 5 प्रतिशत और सोयाबीन की कीमतें 1.6 प्रतिशत तक बढ़ गयीं। मक्का और सोयाबीन का इस्तेमाल जैविक ईंधन के लिये भी किया जा रहा है जिसकी वजह से मवेशियों के चारे की कीमतें भी पहले से ज्यादा बढ़ गयी हैं।

दूसरी तरफ सट्टेबाजों ने सस्ती खेती लायक जमीनों को “कब्जाना” शुरू कर दिया है, जिससे भविष्य में कृषि योग्य जमीनें और कम हो जायेंगी, जबकि खाद्यान्न की माँग पहले से ज्यादा बढ़ती जा रही है।

इन बढ़ती कीमतों का सबसे ज्यादा असर गरीब देशों पर पड़ता है परन्तु विकसित देशों के निवासी भी इनसे अछूते नहीं हैं। ब्रिटेन में चैरिटी आईजीडी शोपरविस्टा द्वारा किये गये सर्वे के अनुसार, किसी भी उत्पाद को चुनने में उसकी कीमत मुख्य भूमिका होती है 41 प्रतिशत खरीददारों ने इसे सबसे महत्वपूर्ण कारक बताया और 90 प्रतिशत ने इसे सबसे प्रमुख पाँच कारकों में से एक बताया।

हमारी खरीदने की क्षमता पर यह निर्भर करता है कि हम क्या खाते हैं और क्या पीते हैं। ब्रिटेन की लेबर सांसद मेरी क्रेघ ने कहा, “हालाँकि हम दुनिया के सातवें सबसे अमीर देश हैं, तब भी हम एक

शेष पृष्ठ 29 पर...

मिस्र क्रांति का भ्रान्ति विलास

मिस्र में तहरीर चौक पर मुस्लिम ब्रदरहुड के नेता राष्ट्रपति मोहम्मद मोरसी के खिलाफ विरोध प्रदर्शन करती हुई लाखों प्रदर्शनकारियों की भीड़ से एक 25 वर्षीय लड़की इन्जीनियरिंग की छात्रा मरियम, ने चिल्लाते हुए कहा कि “नये संविधान में कोई छूट नहीं दी गयी है, वे गढ़ी गयी आजादी को हमारे ऊपर थोप रहे हैं, जो असली आजादी नहीं है, यह संविधान होस्नी मुबारक के संविधान से भी बुरा है। इससे तो सेना ही बेहतर थी क्योंकि हम उसके खिलाफ गोलबंद होकर विद्रोह कर सकते थे। लेकिन ब्रदरहुड समाज को बाँटने के लिए धर्म का इस्तेमाल कर रहा है।”

“मिश्र की क्रांति” को हुए अभी छः महीने भी नहीं हुए थे कि वहाँ की जनता एक बार फिर सड़कों पर उतर आयी। होस्नी मुबारक की जिस तानाशाही को वहाँ की जनता ने लगभग एक साल पहले उखाड़ फेंका था वैसी ही तानाशाही मुस्लिम ब्रदरहुड के नेता मोरसी ने मिस्र की जनता पर दुबारा लादना शुरू कर दिया है।

22 नवम्बर को मोरसी ने एक शासनादेश जारी किया, जिसके तहत उसने खुद को ऐसी शासकीय शक्तियों से लैस कर लिया है, जिन्हें मिस्र की न्यायपालिका भी चुनौती नहीं दे सकती और मिस्र का ये नया “फराओ” किसी के प्रति भी जवाबदेह नहीं होगा, यहाँ तक की उसने नये संविधान को बनाने के लिये इस्लामी कट्टरपंथियों के प्रभुत्व वाली 100 सदस्यों की एक कमेटी बनायी, जो कानून के दायरे से बाहर होगी और जिसे भंग भी नहीं किया जा सकता है।

मोरसी की इस नयी हिटलरशाही ने तथाकथित लोकतंत्र के उस सिद्धांत को भी नकार दिया है, जिसमें शासकवर्ग द्वारा ताकत के बँटवारे या शक्ति संतुलन को लोकतंत्र की नींव माना जाता है। इस घटना ने दुनियाभर के ऐसे अतिआशावादी बुद्धिजीवियों की सोच पर सवाल खड़ा किया है जो एक स्वतः स्फूर्त आंदोलन को क्रांति समझने की हड़बड़ी दिखा रहे थे।

दरअसल जनता के गुस्से को शांत करने के लिये अमरीका और उसके पिटू मोरसी ने योजनाबद्ध तरीके से वहाँ की जनता को चुनावी स्वांग में उलझाकर उन्हें कुछ परोपकारी सेवाएँ उपलब्ध करायीं, जिसके लिये अमरीका से उसे वित्तीय सहायता भी मिली। इससे मोरसी की ब्रदरहुड पार्टी मिस्र की कुछ जनता के दिलों में जगह बनाने में सफल रही और मोरसी को मिस्र के राष्ट्रपति चुनाव में सफलता मिली। जबकि सच्चाई यह है कि ब्रदरहुड पार्टी अमरीका और राजनीतिक इस्लाम के गठजोड़ पर आधारित है। ब्रदरहुड के

बारे में विश्व के जाने-माने अर्थशास्त्री समीर अमीन ने कहा था कि “मुस्लिम ब्रदरहुड जो शासनतंत्र का अंग है, उसे महज एक “इस्लामिक पार्टी” नहीं माना जा सकता बल्कि सबसे पहले और सबसे बढ़-चढ़ कर यह एक बेहद प्रतिक्रियावादी पार्टी है, जो साथ ही इस्लामपंथी भी है। यह केवल सामाजिक मुद्दों (हिजाब, शारिया, दूसरे धर्मों से दुश्मनी, इत्यादि) के मामले में ही नहीं बल्कि आर्थिक-सामाजिक जीवन के बुनियादी मामलों में भी उसी हद तक प्रतिक्रियावादी है ब्रदरहुड हड़तालें, मजदूर यूनियनों, किसानों की बेदखली के खिलाफ प्रतिरोध आंदोलन इत्यादि का विरोधी है।”

ब्रदरहुड और अवसरवादी मोरसी के बारे में यह आकलन समीर अमीन ने मिस्र चुनावों के दौरान किया था, जिसे वक्त ने बहुत ही जल्दी सबके सामने ला दिया।

इससे यह भी साफ हो जाता है कि सारी दुनिया पर अपनी मानवद्रोही नीतियाँ थोपने वाले अमरीका के लिये यह जरूरी था कि मिस्र में स्थिति ज्यों की त्यों बनी रहे और वह सफल भी रहा। जिसका नतीजा यह हुआ कि आन्दोलनकर्ताओं का साथी होने का ढोंग करने वाला मोहम्मद मोरसी आज खुलकर अमरीकी इशारे पर ईजराइल और फिलिस्तीन के बीच मध्यस्थ की भूमिका निभाने की पेशकश करके बराक ओबामा की दिली प्रशंसा लूट रहा है।

हालाँकि इस बात को नजरंदाज नहीं किया जा सकता कि महंगाई, बेरोजगारी और सामाजिक समस्याओं से त्रस्त, गुस्सायी मिस्र की जनता ने एक क्रांति की नींव डाल दी थी, लेकिन मनोगत परिस्थितियों के अभाव में उसे अमरीका द्वारा अपने स्वार्थों के लिये “हाइजैक” कर लिया गया और क्रांति होते-होते रह गयी।

इन परिस्थितियों में यदि मिस्र में मेहनतकश जनता का कोई क्रान्तिकारी संगठन या पार्टी होती तो वह देश, समय, काल व परिस्थितियों को भांप कर अमरीकी मंसूबों पर पानी फेर सकती थी और लोकतंत्र समता तथा न्याय के जिस लक्ष्य को लेकर वहाँ की जनता ने आवाज बुलंद की थी उसे अंजाम तक पहुँचा सकती थी। अब तो केवल यही उम्मीद की जा सकती है कि मिस्र की जनता और प्रगतिशील बुद्धिजीवी वर्ग अपनी गलतियों से सबक लें, एक नयी क्रांति की शुरुआत कर पूरे विश्व के सामने एक मिसाल कायम करें। □

फिलिस्तीन को संयुक्त राष्ट्र के पर्यवेक्षक सदस्य की मान्यता बरकरार

संयुक्त राष्ट्र सामान्य सभा ने 29 नवम्बर को फिलिस्तीन के पक्ष में भारी मत देकर उसे संयुक्त राष्ट्र का पर्यवेक्षक सदस्य की मान्यता बरकरार रखी। 193 में से मात्र 9 देशों ने उसके खिलाफ वोट दिये। जिसमें अमरीका और उसके पिट्यू देश जैसे इजराइल, कनाडा आदि शामिल थे।

फिलिस्तीन के लिए यह विश्वव्यापी समर्थन काफी मायने रखता है। दूसरी ओर दुनिया भर में लोकतंत्र की तिजारत करने वाले अमरीका के लिए यह घटना शर्मसार करने वाली है। इसी झल्लाहट में उसने फिलिस्तीन को धमकाते हुए कहा कि अगर फिलिस्तीन ने अपनी इस नयी स्थिति का प्रयोग इजराइल के खिलाफ किया या अंतरराष्ट्रीय अपराध न्यायालय में इजराइल के खिलाफ मामला दर्ज किया तो इसके बहुत बुरे परिणाम झेलने पड़ेंगे।

संयुक्त राष्ट्र सामान्य सभा द्वारा फिलिस्तीन के पक्ष में दिया गया यह फैसला, उसके प्रति विश्व जनमानस की एकता और समर्थन को दर्शाता है। इस मतदान में नाटों के सहयोगी फ्रांस और ब्रिटेन ने भी अमरीका-इजराइल के खिलाफ फिलिस्तीन के पक्ष में वोट दिया। यह साम्राज्यवादियों के अन्तरविरोधों को सामने उबार लाता है। मध्यपूर्व और अरब राष्ट्रों में अपने प्रभाव क्षेत्र और दूरगामी हितों को देखते हुए फ्रांस और ब्रिटेन ने इस मुद्दे पर अलग रुख अखतियार किया। साम्राज्यवादियों के बीच लूट के लिए कायम एकता अस्थायी होती है जबकि अपने स्वार्थों के चलते उनके बीच टकराव ही स्थायी होता है।

संयुक्त राष्ट्र संघ में यह मतदान उस समय हुआ जब 'आपरेशन आत्मरक्षा-स्तम्भ' (आपरेशन पिलर ऑफ डिफेन्स) के नाम पर इजराइल ने फिलिस्तीन पर बर्बर हमले किये। 4 नवम्बर को इजराइली सेना ने गाजा के भीतर एक फिलिस्तीनी को गोली से उड़ा दिया। उस पर आरोप था कि वह सीमा की तरफ बढ़ रहा था, फिलिस्तीन का कहना था कि वह आदमी दिमागी तौर से अस्वस्थ था और अगर इजराइली सेना ने एम्बुलेन्स सेवा को कई घण्टों तक बाधित नहीं किया होता, तो उसकी जान बचायी जा सकती थी। इस घटना के बाद 8 नवम्बर को फिलिस्तीनी लड़ाकों से निबटने के नाम पर इजराइली सेना गाजा में घुसी और फुटबॉल खेल रहे 13 साल के बच्चे को अपनी गोलियों का शिकार बनाया। इसके

दो दिन बाद 10 नवम्बर को फिलिस्तीनी लड़ाकों ने अपनी टैंक-विरोधी देशी मिसाइल से एक इजराइली जीप को उड़ा दिया जिसमें चार सैनिक घायल हुए। जीप गाजा की सीमा के पास गस्त लगा रही थी। इसके बाद से इजराइल ने फिलिस्तीन पर लगातार हमले किये। जिसका जवाब फिलिस्तीनी लड़ाकों ने अपने देशी हथियारों से दिया।

इन हमलों और जवाबी हमलों को कई-कई तरह से प्रचारित किया गया। ज्यादातर मामलों में 4 और 8 नवम्बर को हुई घटनाओं को नजरांदाज करते हुए इसे 10 नवम्बर को हुई घटनाओं का परिणाम बताया गया। ऐसा कर वैश्विक स्तर पर इस पूरे घटनाक्रम के लिए फिलिस्तीन को जिम्मेदार ठहराया गया और इस तरह पेश किया गया मानों इजराइल महज आतंकवादियों से अपने देश की जनता की रक्षा कर रहा था। 14 नवम्बर को इजराइल ने हमास की सैन्य टुकड़ी के नेता अहमद जवारी की कार पर हमला किया, जिसमें उनकी मौत हो गयी। इस घटना ने शान्ति प्रक्रिया को बाधित किया। (यह दीगर बात है कि यह शान्ति प्रक्रिया फिलिस्तीन की ओर से ही थी। इजराइल ने कभी व्यवहारतः खुद को इसमें शामिल नहीं किया। फिलिस्तीन पर इजराइल और उसके मालिक अमरीका की काली करतूतों को हम देश-विदेश के पिछले अंकों में प्रकाशित करते रहे हैं।)

फिलिस्तीन पर आर्थिक प्रतिबंध लगाकर और विभिन्न तरीकों से उसकी अर्थव्यवस्था को चौपट करने में इजराइल-अमरीका ने कोई कोर-कसर नहीं छोड़ी, (देश-विदेश अंक 12, दिसम्बर-2011 फिलिस्तीन पर इजराइली कब्जा और बेलगाम लूट) इसके चलते फिलिस्तीनी अर्थव्यवस्था को हर साल 4.4 अरब डॉलर से हाथ धोना पड़ता है, यह राशि उसके अत्यल्प सकल घरेलू उत्पाद का लगभग 85 प्रतिशत है। यह आर्थिक हमला जिसे इजराइल अपना अधिकार मानता है पूरी फिलिस्तीनी जनता की तबाही का कारण बना हुआ है, इसके बावजूद यह चर्चा करना कि किसने पहले रॉकेट दागे बचकानापन होगा।

नवम्बर 29, 1947 को संयुक्त राष्ट्र सामान्य सभा की अनुशंसा पर फिलिस्तीन का विभाजन हुआ था। 14 मई 1948 को

इजराइल को एक और झटका

विश्व यहूदी संगठन (वर्ल्ड जियोनिस्ट ऑरगनाइजेशन) के कार्यकारी प्रमुख डेविड बेन गुरिओन ने एक यहूदी देश के निर्माण की घोषणा की, जिसे इजराइल नाम दिया।

अपने जन्म के बाद से इजराइल अपनी फासीवादी, विस्तारवादी नीतियों को आगे बढ़ाता रहा जिसके चलते अरब देशों के साथ लगातार इसके युद्ध होते रहे। 1967 और 1982 के दौरान इसने वेस्ट बैंक और सिनाई प्रायद्वीप पर कब्जा कर लिया, इसके बाद गाजापट्टी, गोलान पहाड़ियों और अन्य तमाम इलाकों पर कब्जा करता चला गया।

फिलिस्तीन को इजराइली कब्जे से आजाद कराने के लिए 1987 में हमास की स्थापना हुई थी। यह संगठन मुस्लिम कट्टरपंथी विचारधारा पर आधारित है। फिलिस्तीनी जनता के जायज हकों के लिए संघर्षरत होने के कारण 2007 में फिलिस्तीन के गाजा में हुए संसदीय चुनावों में इसने भारी बहुमत से जीत हासिल की। जबकि लोकतांत्रिक पद्धति से सत्ता में पहुँचा यह संगठन इजराइल, अमरीका और कुछ यूरोपीय देशों की निगाह में आज भी आतंकवादी संगठन है।

इन ताजा इजराइली हमलों के पीछे वहाँ जनवरी में होने वाले चुनाव है। इजराइली प्रधानमंत्री वेन्यामिन नेतन्याहू पिछले दो दफा से युद्धोन्माद के जरिये ही सत्ता तक पहुँचे हैं। इससे पहले 2008-09 में भी इजराइल ने फिलिस्तीन पर नृशंस हमले किये थे जिसमें 1400 लोगों की मौत हुई थी। नेतन्याहू के लिए इसके परिणाम चुनावी विजय के रूप में सामने आये। इजराइली क्रान्तिवादी कार्यकर्ता का इस बारे में कहना है कि “जिन्होंने हमला करने का निर्णय लिया उनका निर्णय जनता वोटों से करेगी, लेकिन मुझे लगता है कि इसकी वजह से उन्हें ज्यादा वोट मिलेंगे।” इसके अलावा इन हमलों का एक मकसद इजराइल द्वारा अपने नये हथियारों और रक्षा प्रणाली का परीक्षण भी है।

इन प्रतिकूल परिस्थितियों में भी फिलिस्तीनी जनता अपने जायज हकों और राष्ट्र मुक्ति के लिए जो संघर्ष चला रही है, वह काबिले तारीफ है। अपने देशी हथियारों से वह अमरीका द्वारा इजराइल को दिये गये अत्याधुनिक हथियारों व तकनीक से मुकाबला कर रही है। बेशक उसके हथियार इन अत्याधुनिक हथियारों और तकनीक प्रणालियों के सामने कहीं नहीं टिकते, लेकिन यह उसके बुलन्द हौसलों को ही दर्शाता है। □

संयुक्त राष्ट्र सामान्य परिषद ने हाल ही में एक प्रस्ताव पारित किया है कि इजराइल अपने नाभिकीय कार्यक्रमों को निगरानी और जाँच-पड़ताल के लिए खोले। संयुक्त राष्ट्र में फिलिस्तीन के समर्थन में पड़े भारी मतों के बाद इजराइल के लिए यह दूसरा बड़ा झटका है। साथ ही संयुक्त राष्ट्र ने पश्चिमी एशिया में नाभिकीय प्रतिबन्ध पर होने वाले उच्च स्तरीय सेमिनार का भी समर्थन किया है जिसे हाल ही में अमरीकी दबाव के कारण रद्द करना पड़ा था।

अमरीका ने 23 नवम्बर को यह घोषणा की थी कि फिनलैण्ड के हेलसिन्की में मध्य दिसम्बर में होने वाले इस सेमिनार को उस क्षेत्र में हो रही राजनीतिक हलचलों और नाभिकीय अप्रसार को लेकर ईरान के विरोधी रुख के कारण रद्द कर दिया जायेगा। दूसरी तरफ सभी अरब राष्ट्रों और ईरान ने कहा कि सेमिनार को रद्द करने का असली कारण यह है कि इजराइल ने इसमें शामिल होने से मना कर दिया है।

संयुक्त राष्ट्र के इस प्रस्ताव में 6 के मुकाबले 176 मतों और 6 तटस्थ वोटों के आधार पर इजराइल को नाभिकीय अप्रसार सन्धि में अविलम्ब शामिल होने और अपने नाभिकीय कार्यक्रमों को अन्तरराष्ट्रीय आणविक ऊर्जा एजेंसी की जाँच-पड़ताल के लिए खोलने को कहा गया।

इजराइल यह बताने को तैयार नहीं कि उसके पास नाभिकीय बम हैं या नहीं। उसने नाभिकीय अप्रसार सन्धि को मानने से भी इंकार किया है। इससे जाहिर होता है कि उसके पास नाभिकीय जखीरे हैं। इससे पहले भी अरब देशों ने पश्चिम एशिया को जन संहारक हथियारों से मुक्त क्षेत्र बनाने का प्रस्ताव दिया था और इजराइल पर दबाव बनाने की कोशिश की थी कि वह अपने नाभिकीय हथियारों को नष्ट करे, 1995 में नाभिकीय अप्रसार सन्धि (एनपीटी) के सम्मेलन में इसे दर्ज तो किया गया, लेकिन इस पर कोई कार्रवाही नहीं की गयी।

मध्य पूर्व को जन संहारक हथियार मुक्त क्षेत्र बनाने को लेकर 2010 में 189 देशों ने 2012 में सम्मेलन करने को मंजूरी दी थी। हाल ही में इसे रद्द करने की अमरीकी घोषणा विश्व शान्ति के उसके दावों की कलाई खोलती है। हालाँकि संयुक्त राष्ट्र द्वारा पारित प्रस्ताव कानूनी तौर पर किसी के लिए भी बाध्यकारी नहीं है। फिर भी यह मौजूदा शक्ति संतुलन और विश्वशक्ति के प्रति नैतिक व राजनीतिक समर्थन को व्यक्त करता है। □

वैश्विक श्रेष्ठता के लिए द इकोनोमिक टाइम्स पुरस्कार के निर्णायक मंडल को खुला पत्र

(यूँ तो किसी अंग्रेजी अखबार द्वारा उद्योगपतियों को दिया जाने वाला कोई ऐसा पुरस्कार जिसके निर्णायक मंडल में औद्योगिक घराने के लोग ही भरे पड़े हों, उसके चरित्र को लेकर न तो किसी भ्रम की गुंजाइश है और न ही वह हमारे सरोकार का विषय है। लेकिन एमनेस्टी के इस पत्र में वेदान्ता कम्पनी के क्रियाकलापों से सम्बंधित जो तथ्य और सूचनाएँ दी गयी हैं, वह निश्चय ही गौरतलब है।)

प्रिय श्री दीपक पारेख, श्री कुमार मंगलम बिरला, श्री के वी कामथ, श्री क्रिस गोपालकृष्णन, श्री ए के नायक, श्रीमती चन्दा कोचर और श्री सिरिल श्रोफ,

हम एमनेस्टी इंटरनेशनल भारत के लोग वेदान्ता पीएलसी के चेयरमैन श्री अनिल अग्रवाल को वर्ष 2012 का द इकोनोमिक टाइम्स बिजनेस लीडर पुरस्कार देने के आपके फैसले से काफी निराश हुए हैं।

बिजनेस लीडर पुरस्कार उस व्यक्ति को दिया जाता है जिसने “सफलता की एक रणनीतिक दिशा का प्रदर्शन किया हो और एक दृष्टि अपनायी हो।” लेकिन वेदान्ता ने, ओडिसा की नियामगिरी पहाड़ियों में बॉक्साइट के खदान शुरू करने और लांजीगढ़ के निकट एक अल्युमिनियम शोधक संयंत्र का विस्तार करने के लिए लीडरशिप और दृष्टि, दोनों ही मामले में भारी कमी का प्रदर्शन किया। इसकी जगह इसने जिस चीज का परिचय दिया, वह है- भारतीय कानूनों की वेश्मर्मा के साथ अवहेलना और स्थानीय समुदायों के अधिकारों के प्रति सम्मान का पूरी तरह अभाव।

अगस्त 2010 में, पर्यावरण और वन मंत्रालय ने जब यह पाया कि नियामगिरी बॉक्साइट परियोजना ने पर्यावरण और वन कानूनों का बड़े पैमाने पर उल्लंघन किया है और इससे डोंगरिया कोंध आदिवासी समुदाय के साथ-साथ स्थानीय समुदायों के अधिकारों का हनन होगा, तो इस परियोजना को रद्द कर दिया गया। मंत्रालय ने लांजीगढ़ संयंत्र के विस्तार की अनुमति पर भी रोक लगा दी, जब विशेषज्ञ समिति ने पाया कि यह गैरकानूनी है। द इकोनोमिक टाइम्स ने नियामगिरी बॉक्साइट खदान योजना का खुद ही लिखित रूप से विरोध किया है।

वेदान्ता ने उसके बाद से एक मानवाधिकार और टिकाऊपन की नीतिगत रूपरेखा तैयार की, जिसके बारे में उसका दावा है कि वह अंतरराष्ट्रीय मानकों और सर्वश्रेष्ठ व्यवहार पर आधारित है। उक्त पुरस्कार के निर्णायकों ने कहा है कि श्री अग्रवाल की कम्पनियों में कुशासन के बारे में जो धारणा प्रचलित है, वह यथार्थ नहीं है। लेकिन एमनेस्टी इंटरनेशनल के ताजा शोध बताते हैं कि वेदान्ता के उल्लंघन अपने चरम पर हैं और लगातार जारी हैं। वेदान्ता की

घोषित नीतिगत रूपरेखा और ओडिसा में इसकी व्यावहारिक कार्रवाइयों में भारी अंतर मौजूद है।

वेदान्ता द्वारा डोंगरिया कोंध के दृष्टिकोण की उपेक्षा लगातार जारी है। इसने स्थानीय समुदायों से राय-मशवरा करने का दावा किया है, जो एमनेस्टी इंटरनेशनल द्वारा एकत्रित प्रमाणों से पुष्ट नहीं होता। इन प्रमाणों में डोंगरिया कोंध की गवाहियाँ और औपचारिक बैठकों का कार्यवृत्त भी शामिल है। कम्पनी के दावे, 2010 में पर्यावरण और वन मंत्रालय द्वारा नियुक्त विशेषज्ञ समिति के दो अधिकारियों के निष्कर्षों से भी गलत ठहरते हैं।

वेदान्ता यह दावा करती है कि उसने भारतीय कानूनों के अनुरूप ही इस परियोजना की प्रक्रिया पूरी की है। लेकिन उसका यह दावा लांजीगढ़ संयंत्र के चलते बुरी तरह प्रभावित समुदायों की गवाही के आगे कहीं नहीं टिकता। इस संयंत्र से होने वाले प्रदूषण के कारण स्थानीय निवासियों के स्वास्थ्य और जल स्रोतों पर बुरा असर हुआ, बिना उचित मुआवजा दिये उनकी खेती की जमीन अधिग्रहित कर ली गयी तथा प्रदूषण और सामिलात जमीन पर कम पहुँच के चलते उनकी रोजी-रोटी का नुकसान हुआ।

लांजीगढ़ संयंत्र से निकलने वाले लाल कीचड़ के जलाशयों से उत्पन्न खतरों को पर्याप्त रूप से हल करने और वास्तविक प्रदूषण के दुष्प्रभावों के बारे में सही जानकारी देने में वेदान्ता की असफलता का एमनेस्टी इंटरनेशनल ने भंडाफोड किया। लेकिन इसके बावजूद कम्पनी ने सुधार की दिशा में उचित कदम नहीं उठाये।

राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग द्वारा की जा रही एक जाँच-पड़ताल में पाया गया कि जो लोग वेदान्ता के विरोधी हैं, उन्हें फर्जी मुकदमों में फँसाने और उनके विरोध को कुचलने में स्थानीय पुलिस भी लिप्त है। आयोग की जाँच बताती है कि वेदान्ता के परोक्ष इशारे पर पुलिस ने इस परियोजना से प्रभावित गाँवों के निवासियों के ऊपर कई मौकों पर झूठे और अतिरंजित मामलों में मुकदमा दर्ज किया।

ये सभी तथ्य मानवाधिकारों की समस्या को हल करने सम्बंधी वेदान्ता की कथित वचनबद्धता पर सवाल खड़ा करते हैं। श्री अग्रवाल ने इकोनोमिक टाइम्स से कहा है कि- “हमें अपने

विकास के लिए अपने संसाधनों का उपयोग टिकाऊ ढंग से करना है।” लेकिन वेदान्ता ने लगातार यह दिखाया है कि वह ऐसा करने की इच्छुक नहीं है।

वेदान्ता के कई समर्थकों को जब इसके द्वारा किये गये पर्यावरण और मानवाधिकार हनन के बारे में सचेत किया गया तो उन्होंने अपनी राय पर पुनर्विचार किया।

2007 से ही, वेदान्ता के कई संस्थागत निवेशकों ने, जिनमें नार्वेजियन पेन्सन फंड और द चर्च ऑफ इंग्लैण्ड पेन्सन बोर्ड भी शामिल हैं, ओडिसा में कम्पनी की कार्रवाइयों के बुरे प्रभावों के बारे में चिंता जाहिर करते हुए इस कम्पनी का अपना हिस्सा बेच दिया।

इस साल के शुरू में ब्रिटेन की रोयल सोसाइटी फॉर प्रिवेंशन ऑफ एक्सीडेंट और ब्रिटिश सेफ्टी काउन्सिल को जब लांजीगढ़ संयंत्र में सुरक्षा मानकों की अवहेलना के बारे में सूचना मिली, तो

उन संस्थाओं ने वेदान्ता को पुरस्कार देना टाल दिया। चार महीना पहले ही, ओस्लो स्थित बिजनेस फॉर पीस फाउन्डेशन ने ‘व्यापार में नैतिकता’ के लिये श्री अग्रवाल को जो पुरस्कार देना तय किया था, उसे रद्द कर दिया जब वेदान्ता के कदाचारों और मानवाधिकार हनन के बारे में उसे सूचित किया गया।

हम अपील करते हैं कि आप श्री अग्रवाल को वर्ष का ईटी बिजनेस लीडर पुरस्कार देने के फैसले पर पुनर्विचार करें। वेदान्ता को इस पुरस्कार से सुशोभित करना मानवाधिकार हनन के एक इतिहास को पुरस्कृत करना है, अपने अधिकारों पर हमले के खिलाफ स्थानीय समुदायों के न्याय अभियान की अनदेखी करना है और ईटी कारपोरेट श्रेष्ठता पुरस्कार के उद्देश्य के साथ गद्दारी है।

भवदीय,

जी अनन्तपद्मनाभन

मुख्य कार्यकारी, एमनेस्टी इंटरनेशनल (भारत)

(काफिला डॉट ऑर्ग के अंग्रेजी पोस्ट का आभार सहित अनुवाद)

□

नोबेल शान्ति पुरस्कार : एक उन्माद भरी जालसाजी

स्पेन में अशांति और दंगे

यूरोपीय संघ को नोबेल शान्ति पुरस्कार देना एक भद्दा मजाक और उन्माद भरी जालसाजी है। नोर्वे नाटो का सदस्य देश है। सबसे अहम यह कि यूरोपीय संघ के सदस्य देश भी नाटो के सदस्य देश हैं, जो वास्तव में यूरोपीय संघ की सैनिक शक्ति के रूप में काम करता है। इसलिए नाटो नोर्वेजियाई नोबेल “शान्ति” समिति ने नाटो यूरोपीय संघ के सदस्य देशों को अपना पुरस्कार दिया है, क्योंकि उसने अभी हाल ही में लीबिया के खिलाफ हमलावर युद्ध छेड़ा, ताकि वहाँ के तेल और गैस भंडार पर डाका डाले और इस दौरान लगभग 50,000 अफ्रीकियों को वहाँ से भगा दे। यह यूरोपीय गौरांग नस्लवादी उपनिवेशवादी साम्राज्यवाद का मामला है जो दुबारा अफ्रीका पर शिकंजा कस रहा है- फर्क सिर्फ यही है कि इस बार यह कुकृत्य बेहतर देख-रेख के लिए नोबेल शान्ति पुरस्कार का ठप्पा लगा कर किया जा रहा है।

प्रोफेसर फ्रांसिस ए बोएल अंतरराष्ट्रीय न्याय के विशेषज्ञ हैं। वे 1998 में फिलिस्तीनी स्वतंत्रता की घोषणा के बारे में फिलिस्तीनी मुक्ति संगठन और यासिर अराफात के कानूनी सलाहकार थे। साथ ही, वे 1991 से 1993 तक मध्य-पूर्व शान्ति वार्ता के प्रतिनिधि थे। उन्होंने बेकार हो चुके ओस्लो समझौते के लिए फिलिस्तीन की ओर से जवाबी प्रस्ताव तैयार किया था। उनकी रचनाओं में “पेलेस्टाइन, पेलेस्तिनियन एण्ड इंटरनेशनल ला” (2003) और “द पेलेस्तिनियन राइट ऑफ रिटर्न अंडर इंटरनेशनल ला” (2010) शामिल हैं।

प्रोफेसर फ्रांसिस ए बोएल ने 1976 में नोबेल शान्ति पुरस्कार के लिए नामांकन की पात्रता हासिल की थी, जब उन्होंने पहली बार हावर्ड में इंटरनेशनल लॉ का अध्यापन शुरू किया था।

(काउन्टरकरण्ट डॉट ऑर्ग से साभार लिया और अनूदित किया गया।)

□

यूरोपीय संघ को नोबेल पुरस्कार काले कारनामों को छिपाने की साजिश

पिछले छः दशकों से यूरोप में शान्ति बनाये रखने के लिए यूरोपीय संघ को वर्ष 2012 का नोबेल शान्ति पुरस्कार प्रदान किया गया।

यह यूरोप और दुनिया की जनता से किया गया एक भद्दा मजाक है। पिछले कई वर्षों से यूरोप की जनता यूरोपीय संघ के कुकर्मों की सजा भोग रही है। यूनान से शुरू हुई आर्थिक मंदी ने धीरे-धीरे फ्रांस, इटली, स्पेन और यूरोपीय संघ के लगभग सभी देशों को एक-एक कर अपनी चपेट में ले लिया है। नव उदारवादी नीतियों के पैरोकार यूरोपीय संघ के सदस्य यूनान, स्पेन, फ्रांस, पुर्तगाल और आयरलैण्ड जैसे देश दिवालिया होने के कगार पर खड़े हैं। नवउदारवादी नीतियों को अपनाने वाले वहाँ के शासक आम जनता को मूलभूत सुविधाओं से वंचित कर रहे हैं। सरकारी सम्पत्तियाँ पूँजीपतियों को बेची जा रही हैं, सार्वजनिक क्षेत्रों के कर्मचारियों की छंटनी और वेतन में लगातार कटौती जारी है। बेरोजगारी यूरोपीय संघ के देशों में लगातार बढ़ रही है।

ऐसे में नोबेल शान्ति पुरस्कार से सम्मानित यूरोपीय संघ के देशों में जनाक्रोश बढ़ रहा है। यूरोपीय संघ के प्रत्येक देश की जनता ने अपनी सरकारों की जनविरोधी नीतियों को रोकने के लिए विरोध किया। जनता स्पेन, फ्रांस, इटली, यूनान और यूरोपीय संघ के देशों में महँगाई, बेरोजगारी और सामाजिक सेवाओं में कटौती का लगातार विरोध कर रही है। नोबेल शान्ति पुरस्कार से सम्मानित यूरोपीय संघ के देशों की सरकारें अपने देश की जनता के प्रदर्शनों का क्रूरतापूर्वक दमन कर रही हैं।

यूरोपीय संघ के देशों की सरकारें नव उदारवादी नीतियों के कारण उत्पन्न आर्थिक मंदी का सारा बोझ वहाँ की जनता के ऊपर लाद रही हैं और यूरोप की जनता की बदहाली और कंगाली की कीमत पर अपने आप को टिकाये रखने का प्रयास कर रही हैं। ऐसे अपराधियों को नोबेल शान्ति पुरस्कार देने का मतलब क्या यूरोप की जनता के जख्मों पर नमक छिड़कना नहीं है?

इतना ही नहीं, यूरोपीय संघ के सदस्य देशों और अमरीका के मंसूबों को पूरा करने के लिए बनी नाटो सेनाओं ने पिछले

साठ सालों में जो काले कारनामों किये हैं, वे नोबेल शांति पुरस्कार को कलंकित करने वाले हैं।

इराक, अफगानिस्तान, लीबिया और दुनिया के कई देशों में अपनी लूट-खसोट जारी रखने के लिए शांति के नाम पर बर्बर हमले किये गये। फिलीस्तीन में हो रही इजराइली कार्यवाहियों के लिए सबसे ज्यादा वित्तीय और सैन्य मदद यूरोपीय संघ के सदस्य देश ही करते आये हैं। दुनिया की दो सबसे बड़ी विभीषिकायें प्रथम और द्वितीय विश्व युद्ध, जिनमें जान माल की इतनी क्षति हुई जिसका लेखाजोखा लेना असम्भव है, यूरोपीय संघ में शामिल देशों के कारण ही हुए। क्या नोबेल शांति पुरस्कार गाजा पट्टी के निर्दोष लोगों को मौत के घाट उतारने के लिए दिया गया है? क्या यह पुरस्कार इराक-अफगानिस्तान की जनता को मौत और बदहाली के मुँह में धकेलने के लिए दिया गया है? या फिर यह पुरस्कार लीबिया को उजाड़ने के लिए, या इरान पर प्रतिबंधों के लिए? यूरोपीय संघ के काले कारनामों की सूची बहुत लम्बी है।

नार्वे नाटो का सदस्य है और नार्वेजियाई नोबेल शान्ति समिति इस पुरस्कार का निर्णय करती है। यह वास्तव में नाटो और यूरोपीय संघ द्वारा इराक, अफगानिस्तान, लीबिया के तेल भण्डारों पर कब्जे के लिए किये गये कुकृत्यों को छिपाने की एक धिनौनी साजिश है। यह नवउदारवादी साम्राज्यवाद को महिमामण्डित करने का प्रयास है जिसकी गिरफ्त में पूरी दुनिया फँस चुकी है। नाटो नार्वेजियाई शान्ति समिति ने नाटो यूरोपीय संघ को शांति पुरस्कार देकर इन साम्राज्यवादी साजिशों को ही पुरस्कृत किया है। □

इण्डिया : दि नेक्सट सुपरपॉवर?

-अब्दुल एच खान

हाल ही में लंदन के “स्कूल ऑफ इकोनोमिक्स” ने व्यापक अध्ययन और विश्लेषण करके एक पुस्तक प्रकाशित की है, जिसका शीर्षक है-- “इण्डिया : दि नेक्सट सुपरपॉवर?” यानी भारत क्या अगली विश्व-महाशक्ति बनेगा? इस सवाल को उठाते हुए इस पुस्तक के लेखकों ने जो निष्कर्ष निकाला है, वह भारत में बहुत से लोगों को शायद ही पसन्द आएगा। पुस्तक में कहा गया है कि नहीं, भारत न सिर्फ अभी तक महाशक्ति नहीं बना है, बल्कि निकट भविष्य में भी उसके महाशक्ति के रूप में उभरने की कोई संभावना नहीं है।

इस पुस्तक को शीर्षक देते हुए जो प्रश्नवाचक चिन्ह लगाया गया है, वह बहुत-कुछ सन् 2009 में अमरीका की विदेशमंत्री हिलेरी क्लिंटन की भारत-यात्रा के दौरान उनके भाषण की वजह से सामने आया है। तब हिलेरी क्लिंटन ने कहा था-- “भारत न सिर्फ एक क्षेत्रीय महाशक्ति है, बल्कि वह विश्व-महाशक्ति भी है।”

इस पुस्तक के लेखकों और कुछ प्रमुख विद्वानों ने, जिनमें भारतीय विद्वान भी शामिल हैं, अमरीकी विदेशमंत्री की इस तरह की बात से अपनी असहमति प्रकट की है। प्रसिद्ध भारतीय इतिहासकार रामचन्द्र गुहा ने इस सिलसिले में अपनी बात बड़े जोरदार ढंग से रखी है। पुस्तक की शुरुआत ही रामचन्द्र गुहा के लेख से होती है, जिस पर भारतीय पत्र-पत्रिकाओं और विदेशी पत्र-पत्रिकाओं ने विस्तार से टिप्पणियाँ लिखी हैं। रूस के रणनीतिक अनुसंधान संस्थान के भारत सम्बन्धी विशेषज्ञ बरीस वलखोन्स्की ने इस सिलसिले में बताते हुए कहा--

प्रोफेसर गुहा ने ऐसे सात कारण गिनाए हैं जिनकी वजह से भारत विश्व-महाशक्ति नहीं बन सकता है। ये कारण हैं-- भारत में लगातार जारी नक्सली गतिविधियाँ, भारत की दक्षिणपंथी हिन्दूवादी ताकतों की साम्प्रदायिक गतिविधियाँ, कभी ईमानदार और स्वतंत्र रही भारत की केन्द्रीय सरकार का पतन, गरीबी और अमीरी के बीच बढ़ती खाई, मीडिया का नैतिक पतन, संसाधनों के दोहन के कारण फैलने वाला पर्यावरण-दूषण और इस दिशा में किसी प्रभावशाली बदलाव का अभाव जो देश के विकास में भी बाधा पैदा कर रहा है तथा सातवाँ और अन्तिम कारण है-- देश में दिखाई दे रही राजनीतिक अस्थिरता, जिसकी वजह से ही लगातार गठबंधन सरकारें सामने आ रही हैं।

पुस्तक में प्रकाशित दूसरे लेखकों के लेख भी प्रोफेसर गुहा की बातों का ही समर्थन कर रहे हैं। इस किताब की भूमिका लिखते हुए निकोलस कित्वेन ने लिखा है कि बाकी दुनिया पर भारत का

प्रभाव उसकी फिल्मों, साहित्य, संगीत और तरह-तरह के स्वादिष्ट पकवानों, और खिलाड़ियों की उपलब्धियों के कारण ही दिखाई देगा, न कि अन्तरराष्ट्रीय मामलों में किसी ‘रचनात्मक भूमिका के कारण’।

अब सवाल यह पैदा होता है कि आखिर विश्व-महाशक्ति का मतलब क्या है और क्या भारत को विश्व-महाशक्ति बनने के लिए कोई कोशिश करनी चाहिए? ऐसा कौन है जो यह चाहता है कि भारत के राजनीतिक नेताओं के दिमाग में यह बात बैठा दी जाए कि भारत को विश्व-महाशक्ति बनना है? बरीस वलखोन्स्की ने इन सवालों का उत्तर देते हुए कहा--

वास्तव में यह भी साफ-साफ नजर आ रहा है, तभी तो इस किताब के लेखकों ने बार-बार हिलेरी क्लिंटन के शब्दों और कथनों का हवाला दिया है। भारत को विश्व महाशक्ति बनाने के इस विचार से सबसे पहले अमरीका को ही फायदा होगा, जो चीन की भूराजनीतिक महत्वाकांक्षाओं पर रोक लगाने के लिए भारत को उसके मुकाबले में खड़ा करना चाहता है। विश्व-मंच पर अपने प्रमुख सामरिक और रणनीतिक प्रतिद्वन्द्वी के साथ टकराने की इच्छा न रखते हुए या उतनी ताकत न होने की वजह से अमरीका दुनिया के विभिन्न इलाकों में “प्रॉक्सी टकराव” कराने या दूसरे के कंधों पर बन्दूक रख कर चलाने की नीति अपना रहा है। यदि अमरीका अपनी इस नीति में भारत को भी शामिल करने में सफल हो जाता है तो वह एशिया में अपनी समस्याओं को भारत के हाथों हल कराने में सफल हो जाएगा।

सच-सच कहा जाए तो आज भी भारत में वह क्षमता नहीं है और निकट भविष्य में भी नहीं होगी कि वह चीन का सचमुच मुकाबला कर सके और उसके बराबर की ताकत बन सके। लंदन के “स्कूल ऑफ इकोनोमिक्स” द्वारा व्यापक रूप से किया गया यह अध्ययन और विश्लेषण ऐसा कोई पहला अनुसंधान नहीं है, जिसमें यह परिणाम सामने आया है। करीब एक साल पहले अमरीका के रेंड कॉरपोरेशन के विशेषज्ञों ने भी अपने अध्ययन के फलस्वरूप यही नतीजा निकाला था। वे सन् 2025 तक के लिए भारत और चीन के विकास की प्रवृत्तियों का तुलनात्मक अध्ययन करने के बाद इस निर्णय पर पहुँचे थे कि आर्थिक, वैज्ञानिक-तकनीकी और सैन्य क्षेत्रों में दो देशों के बीच बड़ा अन्तर है और यह अन्तर या तो जैसा का तैसा बना हुआ है या लगातार बढ़ता जा रहा है।

शायद इस किताब के लेखक ठीक ही कह रहे हैं कि भारत को फोर्ब्स की सूची में अरबपतियों की संख्या बढ़ाने और अपने एटम बमों या अपने विमानवाहक पोतों की ताकत बढ़ाने की जगह अपनी घरेलू समस्याओं को हल करने की कोशिश करनी चाहिए। □

क्या आपने इससे ज्यादा बेशर्मी भरा आदेश पढ़ा है?

-लखन सिंह

उद्योगपति और सरकार छत्तीसगढ़ में भूमि अधिग्रहण के लिये नये-नये हथकंडे अपनाते रहते हैं। सरकारी अधिकारी भी कंपनी से मिलकर आम जनता की जमीन हड़पने में लगे रहते हैं। ऐसे में यह समझना मुश्किल हो जाता है कि अधिकारी जनता के प्रति जिम्मेदार है या कंपनियों के। एक नया हथकंडा अपनाते हुए सरकार ने यह आदेश जारी किया है कि जो भी अधिकारी विशेष प्रयास करते हुए भूमि अधिग्रहण को जमीन पर उतारेंगे उन्हें प्रोत्साहन राशि के रूप में भू-अर्जन अवार्ड की 10 प्रतिशत राशि मिलेगी। यानी अब करोड़ों रुपया अधिकारियों के जेब में वैधानिक रूप से जायेगा। शायद ही कभी भूमि सुधार या किसी और दूसरे जनप्रिय कार्य में ऐसा कोई आदेश जारी हुआ हो।

आदेश कुछ यूँ है, 'सार्वजनिक प्रयोजन हेतु भू-अर्जन का

कार्य शीघ्रता से कराने हेतु इस काम में लगे हुए अधिकारियों, कर्मचारियों के लिए पर्याप्त इन्सेन्टिव देने के उद्देश्य से शासन द्वारा निर्णय लिया गया है कि इस संबंध में होने वाले खर्च की प्रतिपूर्ति के लिए भूअर्जन करवाने वाले विभागों और संस्थाओं से सर्विस चार्ज वसूल किया जायेगा, जो भू अर्जन आवर्ड की दस प्रतिशत राशि होगी।'

इसका मतलब यही है कि अधिकारी अगर किसानों की जमीन अधिग्रहण के लिए विशेष कोशिश करें तो उन्हें लाखों नहीं करोड़ों रुपये मिलेंगे। यह एक बेशर्मी भरा आदेश है। राज्य में पहले ही जनहित और कानून को ताक में रखकर भूमि अधिग्रहण किया जाता रहा है। आने वाले दिनों में इस 'लोभ' के चलते इसमें और तेजी आने की पूरी आशंका है। □

आधार योजना विरोध

नागरिक अधिकार कार्यकर्ताओं ने न्यायमूर्ति वी एम तारकुण्डे स्मारक भाषण का भारी विरोध करते हुए उसका बहिष्कार किया। आयोजकों ने इस कार्यक्रम में भाषण देने के लिए यूनिवर्सिटी ऑफ इण्डिया (यूआईडीएआई) के चैयरमैन नन्दन मनोहर नीलकानी को आमंत्रित किया था। यह विडम्बना ही है कि मानवाधिकार के लिए जीवन भर संघर्ष करने वाले और पिपुल्स यूनिवर्सिटी फॉर सिविल लिबर्टी के संस्थापक न्यायमूर्ति तारकुण्डे की याद में मानवाधिकारों की मजबूती तथा नागरिक स्वतंत्रता विषय पर भाषण के लिए एक ऐसे व्यक्ति को बुलाया गया जो एकल पहचान पत्र जैसे विवादास्पद और अनेक सवालों से घिरी परियोजना से जुड़ा हो। जिन कार्यकर्ताओं ने कार्यक्रम का बहिष्कार किया, उन्होंने कई बार नीलकानी को जनमंचों पर बहस में शामिल होने के लिए आमंत्रित किया, किन्तु उन्होंने हर बार आने से मना कर दिया और उनके किसी भी सवाल का जवाब देने या उनसे बहस करने से साफ इन्कार कर दिया।

कार्यकर्ताओं ने शुरू से ही यूआईडी परियोजना को मानवाधिकारों के लिए खतरा बताते हुए इसका विरोध किया था। इस सम्बंध में उन्होंने अपना बयान भी जारी किया था। मानवाधिकार कार्यकर्ताओं का मानना है कि एकल पहचान पत्र परियोजना का इस्तेमाल जनता की निजता और उनके लोकतांत्रिक अधिकारों के हनन के लिए किये जाने की आशंका है। उन्होंने माँग की थी कि इस परियोजना पर बहस करायी जाय, परियोजना के सभी व्यवहारिक पहलुओं को मीडिया द्वारा जनता में प्रचारित किया जाय, विशेषज्ञों के द्वारा उसके संवैधानिक पक्षों का अध्ययन हो, इसके हानि-लाभ के बारे में विश्लेषण किया जाये और जनता को बताया जाये, इत्यादि।

यूआईडी का विरोध करने वाले बुद्धिजीवियों में न्यायमूर्ति बीआर कृष्णा अय्यर, प्रो. रोमिला थापर(इतिहासकार) कविता श्रीवास्तव(वकील), निखिल डे, प्रो. उमा चक्रवर्ती प्रो. उपेन्द्र बख्शी सहित अन्य कई बुद्धिजीवी शामिल थे। □

वही करो जो मैं कहता हूँ, वैसा नहीं जैसा मैं करूँ!

-माइक फर्नर

(कनेक्टिकट, अमरीका के स्कूल में हुई अंधाधुंध गोलीबारी की घटना पर एक बेबाक टिप्पणी जो हमारे लिये भी विचारणीय है।)

अपनी भोली-भाली जवानी के दिनों में आपने अपने माता-पिता या बड़े भाई-बहनों की तरफ से इन शब्दों को उछाले जाते सुना होगा, खास कर तब जब आपने उनकी किसी ऐसी गलती पर ऊँगली उठाई हो, जिसके बारे में वे आपसे ऊँचे मापदंड अपनाने को कहा करते हों।

“व्यवहार, शब्दों से अधिक मुखर होता है” और “हम उदाहरण से सीखते हैं,” ये दो ऐसी सच्चाइयाँ हैं जिसे इतिहास ने सही ठहराया है। लेकिन इनको व्यवहार में उतारना आसान नहीं है।

एक राष्ट्र के रूप में हम पिछले हफ्ते कनेक्टिकट में भयावह रूप से हताहत लोगों के परिवारों और प्रियजनों के साथ मिल कर शोक मानते हैं। लेकिन उस शोक के साथ चूँकि यह मत भी जुड़ा हुआ है कि आखिर ऐसी नृशंसता दुबारा कैसे घटित हुई, तो मेरी राय में हम इस घटना के शिकार हुए लोगों के परिजनों और खुद अपने साथ भी अपकार करेंगे, यदि हम सामूहिक कल्लेआम को लेकर अमरीकियों की अभिरुचि की छानबीन करते हुए “हमारे आगे जितने भी विकल्प मौजूद हैं” उन सब पर विचार नहीं करते।

अगर व्यवहार सचमुच शब्दों से अधिक मुखर होता है, तो हमारी युवा पीढ़ी को भला और क्या संस्कार और सीख मिल सकती है, जब हम हर साल शिक्षा और स्वास्थ्य की तुलना में कहीं ज्यादा मौत और पीड़ा खरीदते हैं; जब हम एक ऐसी संस्कृति को जन्म देते हैं जिसमें हिंसा और सैन्यवाद का उत्सव मनाया जाता है जबकि शान्ति और अहिंसा चाहने वालों को अनाड़ी, अनुभवहीन स्वप्नदर्शी और यहाँ तक कि एकदम गद्ददार करार दिया जाता है; जब हम सेना को महिमामंडित करते हैं और बढ़ावा देते हैं, सेना के कुकृत्यों पर पर्दा डालते हैं; जब हमारा देश इतने हथियार बेचता है जितना पूरी दुनिया

मिलकर नहीं बेचती; जब हमारे एक दूतावास पर हमले के बाद देश का नेता कहता है कि “हिंसा के इस्तेमाल के लिए कोई माफी नहीं,” और दूसरे दिन वह अपनी फेहरिस्त के अगले देश और उसके समर्थकों पर बमबारी करने के लिए ड्रोन बम वर्षक रवाना करता है?

क्या हम सचमुच यह सोचते हैं कि हम कहीं कुछ और करें कुछ, बिना साफ तौर पर यह सीखे कि हिंसा चाहे जितनी भी उत्तेजक और भयावह हो, उससे हमें कैसे निपटना है?

इसमें कोई शक नहीं कि जो ताकतें इंसान के दिमाग को इस हद तक मोड़ देती हैं कि वह दर्जनों बेगुनाह लोगों को मौत के घाट उतार दे, वह निश्चय ही जटिल और भयावह होगा। उनमें से कुछ तो इंसान के मन में इतनी गहराई से बैठी हो सकती हैं, जहाँ तक हमारी पहुँच ही न हो। जो भी हो, हमें जानना चाहिए कि आखिर क्यों?

अगर हम ऐसा करते हुए इससे मिलने वाले जवाब से इस हद तक भयभीत न हों कि अगली त्रासदी के घटित होने तक हम भाग कर खोल में ही सिमट जाएँ, तो हमें डॉ मार्टिन लूथर किंग के शब्दों को अपने दिमाग में रखना होगा, जिन्होंने दुर्भाग्यवश अपने देश को “आज की दुनिया में हिंसा का सबसे बड़ा पोषक” कहा था और चेतावनी दी थी कि “जो राष्ट्र साल दर साल सामाजिक उन्नति के कार्यक्रमों की तुलना में सैन्य सुरक्षा पर अधिक खर्च कर रहा है वह आत्मिक मृत्यु के निकट पहुँच रहा है।”

“वही करो जो मैं कहता हूँ, वैसा नहीं जैसा मैं करूँ,” बचपन में ही काम नहीं आया था। यह अब भी काम नहीं आयेगा।

(माइक फर्नर ओहियो निवासी लेखक हैं और वेटरन फॉर पीस संस्था के पूर्व अध्यक्ष हैं। मंथली रिव्यू से आभार सहित।)

□

एरिक हॉब्सबॉम : एक जनपक्षधर इतिहासकार की स्मृति में

- लाल बहादुर वर्मा

(1 अक्टूबर, 2012 को दुनिया के जाने-माने इतिहासकार एरिक हॉब्सबॉम का देहांत हो गया। प्रस्तुत है उनके व्यक्तित्व और कृतित्व पर इतिहासकार लाल बहादुर वर्मा का यह आलेख।)

अगर कोई 94 वर्ष की उम्र में किताब लिखे *दुनिया कैसे बदलें (हाऊ टू चेंज द वर्ल्ड)* और दुनिया उस किताब को जरूरी करार दे, भले ही उसमें मार्क्सवाद की प्रासंगिकता पर जोर दिया गया हो, जिससे मोहभंग का दौर है तो वह निश्चित ही असाधारण प्रतिभा और सरोकार का आदमी होगा। ऐसे ही थे एरिक हॉब्सबॉम जिन्हें हम दुनिया का बेमिसाल इतिहासकार कह सकते हैं। उनका मार्क्सवाद में विश्वास अंत तक बना रहा। हालाँकि वह कभी रूढ़िग्रस्त नहीं रहे और पार्टियों और उनके कार्यक्रमों की आलोचना भी करते रहे। उनकी वस्तुनिष्ठता की प्रशंसा वामविरोधी इसाइया बर्लिन जैसे प्रमुख समकालीन विचारक भी करते थे।

सुनील खिलनानी के अनुसार एरिक राष्ट्रों, साम्राज्यों, विचारधाराओं और आदर्शों के उत्थान और पतन के चश्मदीद गवाह थे। वह इतिहास को जीते ही नहीं थे, लगता है वह सपने भी इतिहास के ही देखते थे।

17 जून, 1917 यानी रूसी क्रांति के वर्ष एरिक जर्मन भाषी माँ के गर्भ से जन्मे थे और बचपन आस्ट्रिया में बीता था। पर इंग्लैंड में पढ़ाई के दौरान अंग्रेजी ही नहीं, ज्ञान की विविध शाखाओं पर ऐसा अधिकार होता गया कि कैंब्रिज विश्वविद्यालय में यह ख्याति हो गयी कि 'क्या है जो एरिक नहीं जानता'। उनके दादा पोलैंड से आकर इंग्लैंड में बसे थे और इस यहूदी परिवार में भी यहूदियों की यह गुणवत्ता भरपूर थी कि अपने यहूदीपन की भरपूर रक्षा करते हुए जिस देश में रहते हैं पूरी तरह वहीं का होकर रहते हैं। जाहिर है इस परिवार ने इंग्लैंड की भरपूर सेवा की। एरिक का जन्म मिन्न के सिकंदरिया नगर में हुआ था और पालन-पोषण हिटलर के बढ़ते प्रभाव के दौरान आस्ट्रिया में। कुल मिलाकर व्यापक इतिहास और मार्क्सवाद की नींव बचपन में ही पड़ गयी थी। माता-पिता की मृत्यु ने उन्हें चाचा पर निर्भर कर दिया था, जो बर्लिन में नौकरी करते थे। हिटलर के सत्तासीन होने को एरिक ने करीब से देखा था। बहरहाल, उसी साल चाचा को इंग्लैंड भेज दिया गया और एरिक के ब्रिटिश बनने की प्रक्रिया शुरू हो गयी।

इसी समय वह जैज संगीत विशेषकर ड्यूक एलिंगटन के बैंड को सुनकर मुग्ध हुए तो इस संगीत से जीवन भर का नाता बन गया। इसमें वे इतने रमे कि वर्षों तक जैज की समीक्षा लिखते रहे और पेंग्विन ने उनकी इस संगीत समझ पर एक किताब छाप दी, जो उनके व्यक्तित्व के मानवीय और कलात्मक पहलू को उजागर करने के लिए आज भी प्रासंगिक है।

विश्वविद्यालय के दिनों में उन्होंने पूँजीवाद के बड़े संकट 'महानमंदी' को देखा-समझा और पूँजीवाद के विकल्प के रूप में उनका समाजवाद में विश्वास पुख्ता हो गया। द्वितीय विश्व युद्ध शुरू हुआ तो वह बाईस वर्ष के प्रबुद्ध युवा थे। सभी युवाओं की तरह उन्होंने भी युद्ध-सेवा के लिए नाम लिखाया और उन्हें रक्षा विभाग में सैनिकों के बीच काम करने का अवसर मिला। उस दौरान उन्होंने ब्रिटेन की गरीब जनता को करीब से देखा और उनके प्रति जीवनभर का सरोकार बन गया।

युद्ध के बाद एरिक ने 'फेबियंस' यानी सुधारवादी समाजवाद पर शोध शुरू किया और वामपंथी विचारों व राजनीति से रिश्ता मजबूत होता गया। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद चलने वाले शीतयुद्ध के दौरान एरिक का घोषित रूप से कम्युनिस्ट होना कैंब्रिज की शिक्षक की मनचाही नौकरी के आड़े आता रहा। इसी कारण कई वर्षों तक अन्य विद्यालयों में पढ़ाते रहे।

हॉब्सबॉम की पहली किताब एक संपादित किताब थी - *लेबर्स टर्निंग प्वाइंट* (1948)। इस पुस्तक पर कम्युनिस्ट पार्टी की छाप थी। पर 1956 में एक तूफान आया। सोवियत यूनियन की सरकार ने हंगरी में अपने मनमाफिक सरकार के हित में सैनिक हस्तक्षेप कर दिया। इससे सारे विश्व के कम्युनिस्टों की आलोचना होने लगी और स्वयं विचारशील कम्युनिस्टों में अंतर्मथन शुरू हो गया। बहुत से लोगो, जैसे विख्यात इतिहासकार क्रिस्टोफर हिल ने नाता तोड़ लिया। एरिक हॉब्सबॉम ने भी सोवियत यूनियन के हस्तक्षेप की आलोचना की, पर कम्युनिस्ट पार्टी नहीं छोड़ी। यह उन्होंने जीवनभर किया। बार-बार वह पार्टी की नीतियों से असंतुष्ट होते, पर उन्होंने

सम्बन्ध कभी समाप्त नहीं किया। उनकी हैसियत अन्तरराष्ट्रीय 'कम्युनिस्ट फ्री थिंकर' की बनी रही।

उनका ध्यान सामाजिक इतिहास की ओर आकर्षित हुआ और उन्होंने जन प्रतिकारों और प्रतिरोधों का इतिहास *प्रिमिटिव रिबेल्स* में लिखा और विशेष रूप से ग्रामीण क्षेत्रों के असंतोष को उजागर किया। श्रमिकों की भूमिका *लेबरिंग मेन* और फिर *वर्ल्ड्स ऑफ लेबर* लिखकर उन्होंने इस क्षेत्र का ऐसा इतिहास प्रस्तुत किया, जो असाधारण था।

बहरहाल, 1968 में प्रकाशित *इंडस्ट्री एण्ड इंपायर* एक ऐसी पुस्तक थी, जो दशकों तक लगातार छपती रही और आज भी एक महत्त्वपूर्ण संदर्भ ग्रंथ है। इस पुस्तक में औद्योगिक क्रांति और औपनिवेशीकरण दोनों में ब्रिटेन की हिरावल भूमिका का विश्लेषण और मूल्यांकन है।

1962 में एरिक ने आधुनिक विश्व को समझने की परियोजना शुरू की। इस क्रम में चार पुस्तकों की सीरीज में पहली पुस्तक *एज ऑफ रिवोल्यूशन* लिखी। इस पुस्तक में उन्होंने औद्योगिक क्रांति को भी सारी दुनिया के लिए महत्त्वपूर्ण माना। उनका प्रयास था कि क्रांतियों को यूरोप तक सीमित रखने की प्रवृत्ति से उबरा जाये। इस सीरीज की अन्य तीन किताबें हैं : *एज ऑफ कैपिटलिज्म*, *एज ऑफ एम्पायर* और *एज ऑफ एक्सट्रीम्स* (ये चारों किताबें हिंदी में उपलब्ध हैं, प्रकाशक : संवाद प्रकाशन) उन्होंने एक तरह से समकालीन इतिहास भी लिखा, क्योंकि अंतिम किताब में 1991 तक के ब्योरे हैं। सारे विश्व के असंख्य तथ्यों को संदर्भित करते हुए संश्लिष्ट विश्व परिप्रेक्ष्य प्रस्तुत करना असाधारण काम है जिसे अपनी प्रखरता, सरोकार और अध्यवसाय से एरिक ने सहज ही प्रस्तुत कर दिया। ये किताबें केवल अकादमिक जगत को नहीं सम्बोधित थीं। उन्हें उच्च स्तर की लोकप्रिय पुस्तकों (हांते *वल्गराइजेशन*) की श्रेणी में रखा जा सकता है। एक जमाने में टॉयनबी की पुस्तक *स्टडी ऑफ हिस्ट्री* बौद्धिकों के लिए *स्टेटस सिंबल* समझी जाती थी। आज ये चारों किताबें किसी भी प्रबुद्ध व्यक्ति के लिए अनिवार्य सी बन गयी हैं, एक 'इंटलेक्चुअल स्टेटस सिंबल' भी।

इतना कर लेना ही किसी इतिहासकार के लिये संतोषजनक उपलब्धि मानी जाती, पर वह तो वृहत्तर सरोकारों वाले सर्जक थे। उन्होंने अपने समकालीन समाज पर इतिहास बोध के साथ लगातार लेख लिखे और उनका प्रभाव भी पड़ा। जब उन्होंने यह बताया कि वर्तमान श्रमिक आंदोलन वह करने में अक्षम हो गया है जिसकी

शुरू में उससे उम्मीद की गयी थी तो कम्युनिस्ट पार्टियों ने नाक-भों सिकोड़ी। ब्रिटेन की युद्धोत्तर काल की लेबर पार्टी ने हमेशा उनका सम्मान किया। हालाँकि वह उसकी नीतियों से हमेशा असंतुष्ट रहे। *टोनी ब्लेयर* ने तो अपने प्रधानमंत्रित्व काल में एरिक को सम्मानित भी किया तो यह कहकर कि 'वह यूरोप की अंतरात्मा को झकझोरते रहते हैं।'

उन्होंने साधारण समझे जाने वाले लोगों में असाधारणता देखकर *अनकॉमन पीपुल* लिखी और 2002 में अपनी आत्मकथा को नाम दिया *इंटरैस्टिंग टाइम्स*। सोवियत यूनियन के विघटन के बाद की दुर्दशा और अमरीकी पूँजीवाद की उद्धृत घोषणाओं के दौरान अगर कोई विचारक-इतिहासकार मार्क्सवाद में पूरी आस्था रखते हुए अपने समय को दिलचस्प बताये तो उसकी उद्दाम आशावादिता संक्रामक उत्साह पैदा करती है। नब्बे वर्ष की उम्र में उन्होंने *ग्लोबलाइजेशन : डेमोक्रेसी एण्ड टेररिज्म* लिखकर साबित किया कि वह समकालीन समस्याओं पर कड़ी नजर रख रहे हैं।

उनकी दूसरी पत्नी *मैरलीन* का उन्हें 'फिट' रखने में विशेष योगदान था। वह न केवल असाधारण मित्र और परिचारिका थीं, वह जीवंत एरिक की रुचियों को भी खूब जानती थीं। जीवन का आनंद लेने वाले एरिक के लिए सुस्वादु और सुपाच्य भोजन बनाने में भी उन्हें महारत थी। तभी तो वह 93 वर्ष की उम्र में भी लगातार भाषण देते, बीबीसी पर ब्रॉडकास्ट करते और विश्वविख्यात 'हे लिटरेरी फेस्टिवल' की शोभा बढ़ाते। अंतिम दिनों में उन्होंने इस लोकप्रिय आयोजन की अध्यक्षता भी स्वीकार ली थी।

90 साल की उम्र में भी वह आसपास कहीं भाषण देने जाना हो तो बस से ही यात्रा करते थे। इतिहास के तथ्य तो वे सारी दुनिया से इकट्ठा कर रचाते-पचाते ही थे। यात्रा भी खूब करते थे। वह भारत आये तो थे ही, भारत की राजनीति, विशेषकर वाम की राजनीति से सुपरिचित थे। वह भारत और ईरान की 'मिनिएचर पेंटिंग' संग्रह करते थे। बाद में जब पेंटिंग का बाजार 'गर्म' हो गया तो उनके लिए यह शौक पूरा करना कठिन हो गया।

अंत में उनके अनुवादक के रूप में यह स्वीकारना ही पड़ेगा कि उनके पाठ की संश्लिष्टता को हिंदी पाठकों तक उन्हीं की शैली में पहुँचा पाना अंततः मेरे लिए असम्भव हो गया। तब एक ही रास्ता था - उनके लेखन के मर्म को, उनकी अंतर्वस्तु को उनके सरोकार के साथ पाठकों तक पहुँचाने का प्रयास और मैंने वही किया है। उनके एक पैराग्राफ के वाक्य -बहुत से संदर्भों को समेकित करते हुए, साहित्य और सृजन का आनंद देते हैं।

उन्हें तोड़कर अलग-अलग वाक्यों में प्रस्तुत करना यूरोपी 'कोर्स-डिनर' का मजा तो दे सकता है पर भारतीय छप्पनभोग वाली थाली का नहीं। पर हो सकता है कोई वह कर पाये जिसे करने में मैं अक्षम साबित हुआ।

अंत में एरिक के योगदान का मूल्यांकन करने से पहले सरसरी तौर पर उनके समस्त लेखन के सारतत्व पर नजर दौड़ा लें तो सार-संकलन में आसानी हो सकती है।

1. औद्योगिक क्रांति को क्रांति कहा तो जाता था पर एरिक ने ही *एज ऑफ रिवोल्यूशन* में फ्रांस की राज्य-क्रांति और औद्योगिक क्रांति को एक ही धरातल पर रखकर न केवल उस समय को बेहतर पहचान दी, क्रांति के विमर्श का भी विस्तार किया।
2. एरिक ने सामाजिक लूट (सोशल बैंडिटी) को चिह्नित कर उसे एक प्रभावी सामाजिक परिघटना बताया।
3. उन्होंने इतिहास में काल विभाजन को वर्षों, दशकों और शताब्दियों की इकाइयों में देखने की निरर्थकता को लम्बी उन्नीसवीं सदी (लांग नाइनटीथ सेंचुरी) की अवधारणा से चिह्नित किया। उन्होंने दिखाया कि जो परिघटनाएँ 1789 ई. की फ्रांसीसी क्रांति से शुरू हुई वे प्रथम विश्वयुद्ध के प्रारम्भ (1914) तक चलती रहीं। इस प्रकार उन्नीसवीं सदी ऐतिहासिक अर्थ में 125 वर्षों की थी।
4. कोई भी संवेदनशील प्राणी आज के समाज की बर्बरता से दुःखी हो जाता है। एरिक ने आधुनिक काल में बर्बरता को ऐतिहासिक तथ्य के रूप में चिह्नित कर उसकी अर्थवत्ता बतायी। कहीं न कहीं यह नृशंसता पूँजीवाद से जुड़ती है।
5. आधुनिक संगीत की जैज एक नयी आवेगमयी विधा है। उसके आवेग और गहनता की विश्व-व्यापी स्वीकार्यता ने संगीत की सार्विकता (यूनीवर्सलिटी) प्रमाणित की है। एरिक उस संगीत के न केवल असाधारण प्रशंसक थे, वह उसके अधिकारी समीक्षक भी थे। उन्होंने वर्षों उस पर स्तम्भ लिखे और अंततः जैज पर उनकी किताब सारी दुनिया में प्रशंसित हुई।
6. इतिहासकार के रूप में उन्हें श्रम, श्रमिक और श्रम-आंदोलन ने शुरू में आकर्षित किया था। उसका उन्होंने विशद अध्ययन किया और उसके राजनीतिक विमर्श का विश्लेषण किया। अंततः वह इस नतीजे पर पहुँच गये थे कि इक्कीसवीं सदी के प्रारम्भ तक यह निश्चित हो गया था कि श्रमिक आंदोलन वह कर पाने में समर्थ नहीं रहा जिसकी उससे अपेक्षा की जाती रही थी।

7. अराजकतावाद (अनार्किज्म) और साम्यवाद का विकास साथ-साथ हुआ था और एक समय मार्क्स भी अनार्किज्म से आकर्षित हुए थे। पर बाद में सिद्धांत और व्यवहार में अंतर बढ़ता गया है। आज तो अराज्यवाद कम्युनिस्ट आंदोलनों की असफलता और विघटन के बाद फिर चर्चा में आ रहा है। एरिक ने दोनों विमर्शों का तुलनात्मक अध्ययन अपने साम्यवादी पूर्वाग्रह के बावजूद किया।

8. वह हंगरी में सोवियत हस्तक्षेप के बाद भी दुखी हुए थे। पर उन्होंने औरों की तरह पार्टी नहीं छोड़ी थी। दस साल बाद जब चेकोस्लोवाकिया में बासंती उभार आया (प्राग स्प्रिंग) और फिर सोवियत यूनियन ने हस्तक्षेप किया। इस बार एरिक ने बाकायदा विरोध किया। फिर भी पार्टी तब तक नहीं छोड़ी जब तक ब्रिटिश कम्युनिस्ट पार्टी का अवसान नहीं हो गया। उनकी सबसे अधिक आलोचना इसी कारण हुई है।

इस विहंगम सर्वेक्षण के बाद मूल्यांकन की कोशिश की जा सकती है। 2002 ई. में दक्षिणपंथी झुकाव वाली पत्रिका 'स्पेक्टेटर' ने लिखा था कि एरिक को ग्रेट ब्रिटेन ही नहीं संसार का सबसे महान जीवित इतिहासकार कहा जा सकता है। दूसरी ओर सोवियत यूनियन के बारे में विशेषज्ञ (क्रेमलिनोलॉजिस्ट) रॉबर्ट कांक्वेस्ट के अनुसार वह सोवियत यूनियन की वास्तविकताओं को नकारने के पूर्वाग्रह से ग्रस्त हैं (मैस्सिव रियलिटी डिनायल)। टोनी जुड्ट (ज्वदल श्रनकज) की राय काफी स्पष्ट है, 'एरिक औरों से बेहतर समझते हैं, बेहतर लिखते हैं। अगर वह जीवन भर कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्य न बने रहते तो कदाचित, बीसवीं सदी के सबसे बड़े इतिहासकार माने जाते।' पर अपनी आत्मकथा में एरिक ने साफ कहा था - 'मैं ऐतिहासिक समझ चाहता हूँ -सहमति, पुष्टि या सहानुभूति नहीं।' वस्तुनिष्ठता और वैचारिक सम्पृक्ति के बीच द्वंद्व अक्सर उजागर हो जाता था, पर केवल कम्युनिस्टों के संदर्भों में। गार्जियन के संपादक मिली बैंड के मूल्यांकन को कौन नकार सकता है - 'एरिक ने इतिहास को हाथी दाँत की मीनार से निकाल कर लोगों के जीवन में ला खड़ा किया।'

पत्रकारिता का 'पेड' पक्ष

--अजय प्रकाश

हमारे देश में पेड न्यूज एक भयानक सच्चाई बन चुकी है और चौथे स्तंभ की विश्वसनीयता को संदिग्ध बना चुकी है। ऐसे के बदले समाचार छपवाने के बढ़ते चलन के बारे में अब सत्ता के शीर्ष पर बैठे लोग भी हाय-तौबा मचाने लगे हैं।

पूर्व सूचना प्रसारण मंत्री अंबिका सोनी द्वारा एक मलयालम दैनिक के 125 वर्ष पूरे होने के मौके पर दिया गया एक बयान भी मीडिया में माफिया की पैठ को रेखांकित करता है। उन्होंने कहा कि "हमारे देश में 'पेड न्यूज सिंड्रोम' मुक्त और सच्ची पत्रकारिता का गला घोट देगा, जो लोकतंत्र की जड़ों में मट्टा डालने जैसा होगा। प्रेस काउंसिल ऑफ इंडिया और चुनाव आयोग को इस मामले में गंभीर प्रयास करने होंगे।"

नये सूचना और प्रसारण मंत्री मनीष तिवारी ने पहली चिंता पेड न्यूज को लेकर ही जाहिर की है। उन्होंने पद सम्भालते ही अपनी पहली प्रेस वार्ता में कहा कि "पेड न्यूज पर रोक लगाना मेरी पहली प्राथमिकता है।"

"हकीकत जैसी, खबर वैसी" की पंचलाइन वाले जी न्यूज चैनल के दो संपादकों की 100 करोड़ की वसूली के आरोप में गिरफ्तारी का मामला अभी सुलझा नहीं है। भारतीय मीडिया के इतिहास में यह पहली इतनी बड़ी रकम की माँग है, जब समाचार चैनल के बड़े अधिकारियों को ऐसे की माँग करते हुए तथाकथित वीडियो में देखा गया है। चैनल के आरोपी सम्पादक सुधीर चौधरी और समीर आहलूवालिया जेल में हैं। जी न्यूज के मालिक सुभाष चंद्रा का कहना है कि वे आरोप लगाने वाले पूँजीपति और कांग्रेस सांसद नवीन जिंदल के खिलाफ मानहानि का मुकदमा करेंगे। नवीन जिंदल ने एक वीडियो जारी कर देश-दुनिया के मीडिया में सनसनी मचा दी थी, जिसमें गिरफ्तार दोनों सम्पादक जिंदल ग्रुप की कम्पनियों के खिलाफ खबर न दिखाने के बदले सौ करोड़ माँगते दिखाये गये हैं।

पेड न्यूज की परिभाषा के मुताबिक, "जो भी खबर या विश्लेषण प्रिंट या इलेक्ट्रॉनिक मीडिया में पैसा लेकर या किसी और तरह के लाभ पहुँचाकर प्रकाशित-प्रसारित हो, वह पेड न्यूज है।" इस दृष्टि से देखें तो जी न्यूज के सम्पादकों की गिरफ्तारी

के बाद दूसरा बड़ा खुलासा छत्तीसगढ़ से प्रसारित होने वाले चैनलों के बारे में है, जो सरकार के पक्ष में खबर दिखाने के लिये साल भर का पैकेज बनाते हैं।

एक अंग्रेजी दैनिक ने वहाँ के मुख्यमंत्री कार्यालय से मिले कागजातों के आधार पर दावा किया है कि हर चैनल को सरकार अपने पक्ष में खबर दिखाने के लिये चैनल की टीआरपी के मुताबिक भुगतान करती है, जो चार लाख से एक करोड़ रुपये तक है। माओवाद प्रभावित राज्य होने के कारण माओवादियों के खिलाफ झूठी खबरें प्रसारित करने के लिये सरकार चैनलों को विशेष भुगतान करती है। इसमें "अपना सब कुछ बेच चुके" चैनल के तौर पर सहारा समय को चिह्नित किया गया है, जबकि जी 24 का रेट सबसे महँगा है। इसके अलावा ई टीवी और साधना न्यूज भी इस खेल के कुछ प्रमुख महारथियों में से हैं। आदिवासियों के कल्याण के लिये बस्तर में काम कर चुके सामाजिककर्मी हिमांशु कुमार कहते हैं, "छत्तीसगढ़ का नब्बे फीसदी मीडिया नेताओं, उद्योगों और माफिया के लिए काम करता है। यह हाल करीब सभी खनन वाले राज्यों का है।"

इनसे पहले मीडिया दलाल नीरा राडिया के टेप-खुलासों की सनसनी ने आदर्शों की दुहाई देने वाले मीडिया का रंग-रोगन धो दिया था। टेप कांड में नेताओं, पूँजीपतियों और दलालों से खबरों के लिये तोलमोल करते कई वरिष्ठ पत्रकारों को ऑडियो टेप में सुना गया। नीरा राडिया दलाली गैंग में जिन पत्रकारों के नाम प्रमुखता से उभरे थे, उनमें एनडीटीवी की सम्पादक बरखा दत्त, हिंदुस्तान टाइम्स के समूह सम्पादक रहे वीर संघवी और 'आजतक' समूह सम्पादक रहे प्रभु चावला थे। इसी कड़ी में नवम्बर के अंत में कानपुर प्रेस क्लब के महामंत्री समेत तीन पत्रकार हत्या, अपहरण और ब्लैकमेल के आरोप में गिरफ्तार किये गये हैं।

खुलासे के मुताबिक इन पत्रकारों का एक भूमाफिया से गठजोड़ था। मीडिया विश्लेषक नीरजा चौधरी कहती हैं कि "हर खुलासे में सिर्फ पत्रकार ही संदेहास्पद बनता है। वह इस खेल का एक मोहरा मात्र होता है। मीडिया उद्योगपति ही

असल अपराधी हैं।” लेकिन सवाल यह है कि जब तमाम पत्रकार ही मालिक बन गये हैं, तो आखिर दलाली में सिर्फ पूँजीपतियों को ही कैसे असल अपराधी माना जाये। वरिष्ठ पत्रकार पी सी लोहनी कहते हैं, “पेड न्यूज का बड़ा कारण पत्रकारों को दी जाने वाली कम तनखाह और ठेके की नौकरी है। दो-चार सौ रुपये लेकर खबर छापने वाले ये पत्रकार मीडिया की बढ़ती ताकत के कारण अब माफिया बन गये हैं।”

मीडिया से माफिया तक के सफर का पहला एहसास देश को तब हुआ, जब सन् 2004 से 2009 के बीच पेड न्यूज को लेकर प्रेस काउंसिल ऑफ इंडिया ने एक रिपोर्ट जारी की। रिपोर्ट में प्रमुखता से कहा गया कि चुनावों के समय अखबार पैसा लेकर पार्टियों और उनके नेताओं के पक्ष में खबरें छापते और माहौल बनाते हैं। प्रिंट मीडिया में पेड न्यूज के सर्वाधिक बदनाम नामों में वैसे तो सभी शामिल हैं, लेकिन जिन राज्यों में जिस अखबार की पहुँच ज्यादा है, वह उतना ही बड़ा वसूली अभियान को अंजाम देता है।

पिछले बिहार विधानसभा चुनावों में ‘दैनिक हिंदुस्तान’, ‘प्रभात खबर’ और ‘दैनिक जागरण’ का नाम प्रमुखता से उभरा था तो उत्तराखंड में ‘अमर उजाला’ बदनाम रहा है। पेड न्यूज पर पहला बड़ा खुलासा पिछले महाराष्ट्र विधानसभा चुनावों के दौरान ‘दैनिक लोकमत’ के बारे में हुआ था। यह खुलासा प्रसिद्ध पत्रकार पी साईनाथ ने किया था। ‘पंजाब केसरी’ ने हरियाणा-पंजाब में, ‘दैनिक भास्कर’ ने अपनी पहुँच वाले करीब सात राज्यों में भी यही किया।

पूर्व सांसद गौरीशंकर राजहंस कहते हैं, “पेड न्यूज की बीमारी नयी नहीं, अस्सी के दशक की है। उस समय विज्ञापन के रूप में उन नेताओं ने खबर छपवानी शुरू की, जिनका कोई जनाधार नहीं था और हालत यह हुई कि 2000 आते-आते आधारविहीन नेता अखबारों के सूरमा बनने लगे और जमीनी नेता हाशिये पर पहुँचने लगे। अब तो नेता बनने की शर्त ही हो गयी है कि आप पेड न्यूज का सहारा लें।” मीडिया विश्लेषक प्रंजय गुहा ठाकुरता की राय में, “पेड न्यूज के कारण मीडिया में पैसे की भूख और सड़ांध दोनों पैदा हुई और मैनेजर ही असल पत्रकार बनकर उभरे हैं।”

हाल ही में खुदरा क्षेत्र में विदेशी निवेश को सरकार द्वारा मिली 51 फीसदी मंजूरी के पीछे भी पेड न्यूज का खेल रहा

है। विदेशी निवेश के पक्ष में सेमिनार, गोष्ठियाँ, अखबारों में लेख, चैनलों पर प्राइम टाइम में बहस आदि के जरिये निवेश चाहने वाली कम्पनियों ने कई सौ करोड़ रुपये खर्चे हैं। सन् 2008 के बाद से वॉलमार्ट कम्पनी ने भारतीय राजनीति, नेता, बुद्धिजीवियों और मीडिया को अपने पक्ष में करने के लिए विभिन्न तरीकों से 125 करोड़ रुपये खर्च किये। खुदरा क्षेत्र में विदेशी निवेश के लिये सरकारी मंजूरी दिलवाने में लगी अमेरिकी कम्पनी वॉलमार्ट ने यह स्वीकारोक्ति अमरीकी सीनेट में दाखिल अपनी रिपोर्ट में की है।

इस खबर के प्रसारित होने के बाद भाजपा प्रवक्ता मुख्तार अब्बास नकवी ने कहा था कि “यह फ्लोर मैनेजमेंट नहीं, फंड मैनेजमेंट था।” एफडीआई के सख्त विरोधी माने जाने वाले कृषि विशेषज्ञ देविंदर शर्मा कहते हैं, “देश में एफडीआई को लेकर मीडिया एक विरोधी माहौल बना सकता था, लेकिन उसकी खबरों से लगता रहा कि वह खुद भी एक भागीदार है। वॉलमार्ट के 125 करोड़ रुपये में मीडिया की हिस्सेदारी न हो, यह असम्भव है।”

“किसी देश के संचार माध्यम प्रायः वहाँ के प्रभुत्वशाली वर्ग की विचारधारा, संस्कृति और जीवन शैली को समूचे देश और समाज की विचारधारा और जीवन शैली के रूप में प्रचारित-प्रसारित करते हैं। वे अपने समाज की तमाम वास्तविकताओं को छिपाते हैं, अयथार्थ को यथार्थ के रूप में पेश करते हैं। इस तरह यथास्थिति को बनाए रखने में शासक वर्ग की मदद करते हैं।”

**-रेमंड विलियम,
संचार माध्यमों का वर्ग चरित्र**

सिक्कों की खनक

-कुलदीप नैयर

अमरीकी पाक्षिक, न्यू यॉर्कर ने टाइम्स ऑफ इंडिया ग्रुप के संचालक जैन बंधुओं- समीर और विनीत के बारे में जो कुछ भी बताया है, वह बहुत से लोगों को पहले से ही पता है। इसमें न्यू यॉर्कर का योगदान बस इतना है कि उसने शक-शुबहा दूर कर दिया और इस बात को पक्का कर दिया कि देश के सबसे बड़े मीडिया मुगल इस बात में यकीन करते हैं कि समाचार कॉलमों के मामले में कुछ भी पवित्र नहीं है और एक तय कीमत पर उन्हें बेचा जा सकता है, क्योंकि उनके लिये अखबार उसी तरह एक बिकाऊ माल है, जैसे देह पर मले जानेवाले सुगंधित पाउडर या टूथपेस्ट।

एक पाठक यह जानकार हतप्रभ हो सकता है कि जिस खबर को वह उत्सुकतापूर्वक पढ़ता है उसे पैसा देकर छपवाया गया है। उसकी कुंठा और लाचारी और बढ़ जाती है, क्योंकि उसे इस बात का पता नहीं चलता कि इस कहानी का कौन-सा हिस्सा खबर है और कौन-सा हिस्सा फर्जी। संपादकीय मानकों का यह उल्लंघन जैन बंधुओं को परेशान नहीं करता, क्योंकि वे इस उद्योग को पैसा कमाने के एक कारोबार की तरह इस्तेमाल करते हैं। वे इस बात से गर्व महसूस करते हैं कि उन्होंने नैतिकता को तार-तार करके चीथड़ों में बदल दिया है और इसके बावजूद उनका अखबार भारत में अब्बल दर्जे का है। इतना ही नहीं, वे शायद दुनिया भर में किसी भी दूसरे अखबार से कहीं ज्यादा पैसा कमाते हैं। महान रूपर्ट मर्डोक का साम्राज्य भले ही टाइम्स ऑफ इंडिया से 20 गुना ज्यादा बड़ा है, फिर भी उसका मुनाफा इससे कम है।

अपने नौ-पृष्ठ के लेख में, उक्त पाक्षिक यह वर्णन करता है कि जैन बंधु पत्रकारिता को सिर्फ “एक जरूरी सिरदर्द की तरह लेते हैं और विज्ञापनदाताओं का असली ग्राहकों की तरह अभिनन्दन करते हैं।” यह आश्चर्य की बात नहीं है कि टाइम्स ऑफ इंडिया अपनी प्रिंट लाइन में अपने संपादकों का नाम नहीं छापता, क्योंकि दरअसल अखबार का कोई संपादक है ही नहीं।

उन्होंने नहीं, किसी और ने बहुत पहले कहा था कि अखबार में लिखना विज्ञापनों के पिछले पन्ने पर लिखने के समान है। जैन बंधु इस तथ्य और इसकी भावना दोनों को अमल में लाते। “हम जानते थे कि हम सुधी श्रोताओं को एकत्रित करने के कारोबार

में लगे हैं। इससे पहले, हम सिर्फ विज्ञापन के लिए स्थान बेचते थे।” न्यू यॉर्कर के उक्त लेख में प्रत्यक्ष रूप में जैन बंधुओं का कोई उद्धरण मौजूद नहीं है। शायद उन्होंने साक्षात्कार देने से इंकार कर दिया हो।

फिर भी, उनके कुछ पिट्टू, शुक्र है कि उनमें से कोई भी संपादकीय खेमे का नहीं है, उनके दिमाग में झॉकने का अवसर प्रदान करते हैं। एक पिट्टू कहता है “संपादकों में 80-80 शब्दों के लंबे वाक्य बोलते हुए, मंच से आडम्बरपूर्ण और कानफोडू भाषण देने की प्रवृत्ति पायी जाती हैं।” विनीत जैन इस बारे में एकदम स्पष्ट हैं कि अखबार के कारोबार में सफल होने के लिये आपको संपादकों की तरह नहीं सोचना चाहिये। “अगर आप सम्पादकीय विचार के हैं, तो आपके सभी फैसले गलत होंगे।”

यह सच है कि जैन बंधुओं ने अखबार को “समाचारों” के कागजी कारोबार में तब्दील कर दिया है। परन्तु ऐसा इसलिये, क्योंकि उन्होंने अपने अखबार को सहेजने की कला में महारत हासिल कर ली है, उसे सस्ता कर दिया है और उसे पीत पत्रकारिता के स्तर तक नीचे गिरा दिया है। फिर भी, वे इसकी परवाह नहीं करते, क्योंकि वे एक पेशे को व्यवसाय बनाने में माहिर हैं। उनके लिये संपादक एक दिहाड़ी मजदूर से भी सस्ते होते हैं।

मुझे एक पुरानी घटना याद आ रही है, टाइम्स ऑफ इंडिया के संपादक गिरिलाल जैन ने एक दिन मुझे फोन करके पूछा कि क्या आप अखबार के मालिक अशोक जैन से, जिनसे आपकी अच्छी जान-पहचान है, इस बारे में बात कर सकते हैं कि वे अपने बेटे समीर जैन को मेरे ऊपर दबाव डालने से मना करें। गिरी ने कहा कि अशोक जैन की प्राथमिकतायें चाहे जो भी रही हों, वे उनके साथ अच्छा व्यवहार करते थे, लेकिन समीर का रवैया अपमानजनक था। अशोक ने जवाब में कहा कि वह चाहे तो कितने भी गिरिलाल खरीद सकता है, लेकिन वह एक भी ऐसा समीर नहीं ढूँढ सकता जिसने उसके मुनाफे को आठ गुना बढ़ा दिया है। इन्दर मल्होत्रा ने एक बार मुझे बताया कि समीर कैसे वरिष्ठ पत्रकारों को संस्था के द्वारा भेजे जाने वाले काइर्स पर अतिथियों के नाम लिखने के लिए अपने कमरे के फर्श पर बैठने के लिए मजबूर करता था।

जैन बंधुओं ने पैसे कमाने के अपने कारोबार में अखबार

को एक बकवास गप्पबाजी तक सीमित कर दिया है। पत्रकारिता उनके कारोबार के लिए सुविधाजनक है। इसे सुनिश्चित करने के लिए, न्यू यॉर्कर के अनुसार यह अखबार “हत्याओं और बलात्कार और दुर्घटनाओं और सुनामी की खबरों में भी आशावाद की एक छोक लगाते का प्रयास करता है और युवाओं से प्रेरक संवाद कायम करने को प्राथमिकता देता है। गरीबी से सम्बन्धित खबरों को कम प्राथमिकता दी जाती है।”

पिछले कुछ सालों में कारोबार और प्रबंधन विभागों को ज्यादा महत्त्व मिलने लगा है। मैं सोचता हूँ कि आपातकाल के दौरान प्रेस का दबू रुख इसकी एक वजह है जिसके चलते व्यावसायिक हितों को ज्यादा महत्त्व मिलने लगा है। जब यह देखा गया कि सम्पादन का काम करने वालों ने बिना कोई संघर्ष किये हथियार डाल दिया, तो प्रबंधकों ने उन्हें उस पूर्व-प्रतिष्ठित स्थान से नीचे गिराना शुरू कर दिया जिस पर पहले उनका कब्जा था। अब वे कारोबारी पक्ष के ताबेदार की भूमिका में हैं। हम लोग जरूरी कारोबारी प्रेस नोट कूड़ेदान में फेंक दिया करते थे।

चूँकि कारोबार और सम्पादकीय के बीच का रिश्ता धुंधला पड़ चुका है, इसलिये स्वतंत्र अभिव्यक्ति सीमित होती जा रही है और रोजबरोज होने वाली दखलअंदाजी बढ़ती जा रही है। यह एक खुला रहस्य है कि प्रबंधन या कारोबारी पक्ष अपने आर्थिक और राजनीतिक हितों के अनुसार एक विशेष लाइन निर्धारित करता है। यह ज्यादा महत्त्वपूर्ण नहीं है कि बहुत से मालिक राज्य सभा के वर्तमान सदस्य हैं, बल्कि यह तथ्य ज्यादा महत्त्वपूर्ण है कि वे कृपादृष्टि पाने के लिये राजनीतिक पार्टियों से सम्बन्ध बढ़ाते हैं।

पार्टियों या संरक्षकों के प्रति उनका आभार और उनकी निकटता अखबारों के स्तम्भों में प्रतिबिम्बित होती है। यही सम्बन्ध अब खुद को “पैसा लेकर छापी गयी खबरों” में तब्दील कर चुके हैं। खबरों को इस ढंग से लिखने की माँग की जाती है जिससे एक व्यक्ति विशेष या खास दृष्टिकोण को समाचार स्तम्भों में व्यक्त किया जा सके। पाठक कभी-कभी ही पकड़ पाते हैं कि कब सूचनाओं में प्रोपगेंडा घुसा दिया जाता है या कब समाचार स्तम्भों की विषय वस्तु में विज्ञापनों को ढूँस दिया जाता है।

इसलिये, अब वक्त आ गया है कि अखबारों, टेलीविजन और रेडियो के सभी पहलुओं की जाँच-पड़ताल करने के लिये एक मीडिया आयोग की स्थापना की जानी चाहिये। 1977 में जब आखिरी प्रेस आयोग नियुक्त किया गया था, तब उसमें टेलीविजन शामिल नहीं था, क्योंकि उस वक्त भारत में इसका अस्तित्व नहीं था। दूसरी चीजों के अतिरिक्त, मीडिया के सभी पहलुओं की जाँच-पड़ताल

होनी चाहिये, मालिकों और संपादकों, पत्रकारों और मालिकों के बीच के सम्बन्धों की जाँच होनी चाहिये, जिन्होंने वर्किंग जर्नलिस्ट एक्ट (कार्यरत पत्रकार कानून) की आड़ में ठेका व्यवस्था लागू की। साथ ही, टीवी और मुद्रित समाचार माध्यम के बीच संयोजन की भी जाँच होनी चाहिये। आज कोई भी अखबार किसी टेलीविजन चैनल या रेडियो का मालिक हो सकता है। एक ही घराने द्वारा परस्पर विरोधी मीडिया का स्वामित्व हासिल करने पर कोई रोक नहीं है। इससे एकाधिकारी संघों को बढ़ावा मिलता है जो अंततः प्रेस की स्वतंत्रता पर प्रतिकूल प्रभाव डालता है।

सत्ताधारी पार्टी, कुछ ऐसे कारणों से जिनके बारे में उसे ही पता होगा, मीडिया आयोग की नियुक्ति नहीं करना चाहती। क्या ऐसा जैन बंधुओं के प्रभाव के कारण है जिन्हें बहुत से सवालियों का जवाब देना होगा। जैन बंधुओं को यह समझना होगा कि एक लेखक को अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का अधिकार इसलिये दिया गया था ताकि वह बिना किसी भय या पक्षपात के कुछ भी कह सके। अगर मालिक ही यह तय करने लगे कि कर्मचारी क्या कहेंगे तो यह अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर गंभीर प्रश्न खड़ा करता है। लोकतंत्र में, जहाँ स्वतंत्र सूचनायें स्वतंत्र प्रतिक्रियाओं को बढ़ावा देती हैं, वहाँ प्रेस को कुछ लोगों की सनक पर नहीं छोड़ा जा सकता। प्रतिबंधित प्रेस, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता की सवैधानिक गारंटी को नष्ट कर सकता है।

(लेखक कुलदीप नैयर ब्रिटेन में भारतीय उच्चायुक्त और राज्य सभा के सदस्य रह चुके हैं। मूल अंग्रेजी लेख ग्लफ न्यूज से आभार सहित लिया गया। अनुवाद- दिनेश पोसवाल)

देश म. आर्थिक उदारीकरण की हवा चलने के बाद बाजारवाद बहुत हावी हो गया है। इसने भारतीय मीडिया संगठनों के गुणसूत्रों (डीएनए) को बदल कर रख दिया है।

-हामिद अंसारी, उपराष्ट्रपति, भारत

इक्कीसवीं सदी का भारत : वर्तमान दशा और भविष्य की दिशा

-शैलेन्द्र चौहान

इक्कीसवीं सदी का दूसरा दशक प्रारम्भ हो चुका है पहले दशक में सदी की सबसे बड़ी घटना विकास दर के बजाय किसानों की आत्महत्या की दर में वृद्धि रही। इससे अधिक शर्मनाक पहलू यह है कि चुनावी मुद्दों की राजनीति में आकर्षण का केंद्र एक बार फिर किसान रहा है। हिन्दी साहित्य का इकलौता किसान होरी, जो ग्रामीण अर्थव्यवस्था का नायक भी रहा है, आज एक बार फिर नेपथ्य में है। प्रेमचंद के बाद किसी और ने किसानों के पक्ष में उतनी सशक्त पैरवी नहीं की। बेहद आश्चर्य की बात है कि हमारे कृषि मंत्री को आज तक यह पता नहीं चल सका कि आखिर किसान आत्महत्या क्यों कर रहे हैं, जबकि उनके प्रदेश में ही कपास उत्पादक किसान लगातार आत्महत्याएँ करते रहे हैं। बिडम्बना यह कि सुविधाओं का सारा का सारा जमावड़ा आज शहरों में है, जबकि सारा अभाव गाँवों में है। बंजर पड़ी जमीन, अनुत्पादक सरकारी संस्थानों का आकलन नहीं किया जाता। विकास दर या प्रति व्यक्ति आय का अवलोकन करने के बजाय प्रति व्यक्ति रोजगार का आकलन क्यों न करें। गाँवों की इतनी अधिक उपेक्षा चिंतनीय है। केंद्रीय योजनाओं में संसाधन नियोजन और वितरण व्यवस्था का यह असंतुलन आज पूरे देश में व्याप्त है। अपनी मिट्टी एवं बुनियाद के प्रति हमारी उदासीनता की यह समझ हमारी सदी में हमारे शहरकेंद्रित सोच और सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था की नाकामयाबी है।

भटकाव के इस सफर में हमने एक और सदी कुर्बान कर दी है। इस सदी में देश के नेतृत्व का संकट सबसे बड़ा संकट रहा है। दरअसल स्वतंत्रता प्राप्ति के साथ ही एक युग की समाप्ति हो गयी और जब सफर की शुरुआत ही दुविधाजनक हो तो फिर रास्ते और मंजिल का क्या भविष्य होगा यह आसानी से समझा जा सकता है। आजादी के बाद हर क्षेत्र में भटकाव का क्रम चलता रहा और आज भी हम देश के नेतृत्व के तौर-तरीकों को लेकर दुविधा की

स्थिति में है। जनता की मर्जी व इच्छा के विरुद्ध, उसे भरमा कर, मीडिया के माध्यम से समझ बना कर किसी बाहुबली या धनबली को नेता मान लेना क्या हमारी जनचेतना की अपरिपक्वता नहीं है? देश ऐसा स्वचालित वाहन नहीं है जिसे कोई भी ऐरा-गैरा चला ले। जहाँ सुचिंतित व्यवस्था व प्रशासन जरूरत व माँग है, वहाँ किसी को गणेशजी बनाकर न तो बैठाया जा सकता है और न ही अवधि

समाप्ति के पश्चात इसका विसर्जन किया जा सकता है। यह देश जनतान्त्रिक देश है। देश के नेतृत्व में श्रद्धा, भक्ति नहीं देखी जाती, क्षमता व निर्णय के विवेक के आधार पर निर्णय लेने होते हैं। नेतृत्व के लिये अतिरिक्त बुद्धि-कौशल, जनतान्त्रिक विवेक व जवाबदेही के साहस की जरूरत होती है।

मीडिया की प्राथमिकता क्या है? हालाँकि इस सदी में मानवता को कलंकित करने वाले कई समाचार

लगातार सुखियों में छाये रहे, राज ठाकरे और उद्धव ठाकरे जैसों के वाहियात वक्तव्य भारतीय परिवेश को दूषित करते रहे। इस संकीर्णता से राष्ट्रीयता का अपमान तो हुआ ही, महाराष्ट्र का कद भी बौना ही हुआ। राज ठाकरे का यह प्रसंग 1948 के बँटवारे की पुनरावृत्ति है, इसे लोकतंत्र के लिये इस सदी का सबसे बड़ा खतरा माना जा सकता है। एक भारतीय प्रदेश का दूसरे भारतीय प्रदेश के प्रति दुराग्रही संदेश कि दूसरे प्रदेश का नागरिक देश का नागरिक न होकर कोई विदेशी हो गया हो। स्वनिर्मित दायरों के बंधन में हम इतना भी न सिमटें कि अपनी पहचान खो देनी पड़े। द्वेष जब भीतर रहता है तब यह शरीर को नष्ट करता है और बाहर आते ही संक्रामित होकर पूरे माहौल को दूषित करता है। राजनीतिक द्वेष-विद्वेष की इस देखा-देखी प्रवृत्ति एवं कुठित मानसिकता का यदि इसी तरह अन्धानुकरण किया जाता रहा, तो हमारी जातीयता का क्या होगा? क्षेत्रवाद के इस उन्माद में हमारे संसाधनों, खदानों, ट्रेनों और राष्ट्रीय उत्पादों का क्या होगा, जल बंटवारे का विवाद आदि

मीडिया जो चाहे लिखे, छापे या दिखाये, वह सब जायज है क्योंकि हम लोग सचेत नहीं हैं, किसी पचड़े में नहीं पड़ना चाहते। कोई भी राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री या मुख्यमंत्री हो क्या फर्क पड़ता है, फिजूल की बातें सोचकर दिमाग को तकलीफ क्यों दें? जो शक्तिशाली, बलशाली होगा वही तो चुनाव लड़ेगा उनके आगे हमारी क्या बिसात? यह हमारी सोच है और कुल भारतीय जन की मानसिकता भी।

क्षेत्रीय राजनीति में प्रायोजित होते रहे हैं। वहीं कुछ धर्म विक्रेता साम्प्रदायिकता का जहर घोलते रहे हैं और दंगे-फसाद प्रायोजित कर लोगों को आपस में लड़ाते एवं बाँटते रहे हैं। मानवीय पक्ष एवं मानवीय चेतना के लिये सबसे बड़ी चुनौती आज यही है कि आदमी को आदमी के रूप में कैसे सहेजा जाये। उसकी सामाजिक व्यक्तिगत संवेदना को कैसे बचाया जाये।

मीडिया की भूमिका आग में घी डालने के सामान रही है, टीआरपी बढ़ाने के लिये टीवी चैनल आग में घी डालकर किसी भी घटना को कलरफुल एवं सनसनीखेज बना देते हैं और उसे चौबीसों घंटे धुन्ते रहते हैं। आसाम में एक लड़की को एक प्रभावशाली मीडिया मालिक के इशारे पर सरे आम बेईज्जत किया जाना इसका निकृष्ट उदाहरण है।

जन-हित से जुड़े मसलों के प्रति मीडिया की उदासीनता का आलम यह है कि नेतृत्व चिन्तन आज हमारी सोच को उद्वेलित नहीं करता जबकि क्रिकेट टीम के नेतृत्व के चिन्तन में लोगों की गहरी दिलचस्पी है। देश का नेतृत्व जनता तय करे या न करे पर मीडिया ने अपना रुख तय कर रखा है। उसे अपने मालिकों के हितों की रक्षा भर करनी है, कब किस दल के चुनाव जीतने से उन्हें लाभ होगा। मीडिया जो चाहे लिखे, छापे या दिखाये, वह सब जायज है क्योंकि हम लोग सचेत नहीं हैं, किसी पचड़े में नहीं पड़ना चाहते। कोई भी राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री या मुख्यमंत्री हो क्या फर्क पड़ता है, फिजूल की बातें सोचकर दिमाग को तकलीफ क्यों दें? जो शक्तिशाली, बलशाली होगा वही तो चुनाव लड़ेगा उनके आगे हमारी क्या बिसात? यह हमारी सोच है और कुल भारतीय जन की मानसिकता भी। एक समय में जनसेवा का पर्याय रही राजनीति आज सत्ता की स्वार्थगत दलाली में बदनाम है। आज की राजनीति में न आदर्श है, न सेवा है और न ही समाजवाद का चिंतन। शासकों की मनमानी के चलते योजनाओं का भारी भरकम बजट भी अपने उद्देश्यों एवं कल्याणकारी योजनाओं को अंजाम दे पाने में समर्थ नहीं है। फिर भी व्यवस्था चल रही है और हम अपने निजी लाभ की सोच रहे हैं। सब अलग-अलग सोच रहे हैं। सबके अपने झंडे, अपने नारे व अपने वादे हैं। जिसे देखो वही आज चोरी में तल्लीन है सरकारी अमला इस चोरी के प्रति उदासीन है क्योंकि उसका भी इस सब में हिस्सा है करें तो क्या करें, किस-किस से लड़ें जनता चुप है, विद्वान लोग चुप हैं और यह चुप्पी पूरी सदी की सोच है, जहाँ हम सोच को भी कोई सही दिशा नहीं दे पाते। यदि हमारा काम होता हो तो हम घूस देने को तत्पर हो जाते हैं यह हमारी सोच है जो बरसों से जारी है। यह आगे भी जारी रहेगी, इससे ही हम

अपने चरित्र को समझ सकते हैं। व्यवस्था पर, सरकार पर सोचें तो कितना सोचें, क्या-क्या सोचें और सोचने का अर्थ ही क्या निकलेगा। घर हो, परिवार हो, समाज हो, क्षेत्र हो, प्रदेश हो या फिर देश सबका विकास नेतृत्व की इच्छाशक्ति एवं पहल पर सम्भव हो पाता है। हमारे क्रमिक विकास में राजनीतिक चेतना व नेतृत्व का संकट सबसे बड़ा संकट रहा है। चुनाव के अंतिम साल में डेर सी योजनायें बनती हैं, घोषणायें होती हैं, फिर शेष रह जाता है चुनाव परिणाम और परिणाम के बाद जीत का जश्न, आरोप-प्रत्यारोप, फिर ऐसे ही बीत जाते हैं पाँच साल। आज हम कहीं भी छोटा-मोटा काम या नौकरी माँगने जाते हैं, तो हमसे हमारी योग्यता तथा कार्य का अनुभव पूछा जाता है। क्या इतने बड़े देश के संचालन के लिये योग्य उम्मीदवार से उनकी योग्यता अथवा अनुभव नहीं पूछा जाना चाहिये? यह कैसी व्यवस्था है। कैसा लोकतंत्र है, जहाँ हम अपने देश के नेतृत्व के पक्ष में अपनी सहमति या असहमति वोट डालने के आलावा जाहिर नहीं कर सकते। कार्टून नहीं बना सकते।

क्या देश के नेतृत्व का चिन्तन हमारी चिंता और कर्म का अंग नहीं होना चाहिये? राहुल को भावी प्रधानमंत्री के रूप में मीडिया द्वारा पेश किया जा रहा है। जैसे प्रधानमंत्री कोई शख्स न होकर बाजार का कोई नवीन उत्पाद हो। ऐसा करना या मानना मीडिया व कांग्रेस की अंधभक्ति व राजनीतिक परम्परा रही है। कांग्रेस जो कथनी से ही सही, बरसों तक शोषित तथा पिछड़े वर्ग की पैरोकार रही है, धर्मनिरपेक्ष छवि व सिद्धांतों के प्रति अपनी निष्ठा जताती रही है। बरसों तक जनता ने जिसे सिर-आँखों पर बिठाया उस वृहत राष्ट्रीय संगठन का कोई कुशल व दमदार नेतृत्व न होना देश की सबसे बड़ी राष्ट्रीय पार्टी की सबसे बड़ी नियति और कमजोरी है। दूसरी ओर भाजपा है जिसे जनता से ज्यादा देश और धार्मिक उन्माद फैला कर भावनात्मक दोहन करना होता है। उनके लिए देश सिर्फ एक भौगोलिक सीमा भर है, उसके बाशिंदे चेतनाहीन और विवेकहीन पुतले हैं। उन्हें कोल्हू के बैल की तरह बँधी-बँधायी लीक पर चलाना है। उससे इतर सोचने का मतलब देशद्रोही होना है।

क्षेत्रीय पार्टियों की भूमिका शीघ्रातिशीघ्र अपना धन भंडार भरने की रही है। इस पर हमारी बौद्धिक चुप्पी है, इस चुप्पी का क्या अर्थ है? जरूरी मसलों के प्रति हमारी उदासीनता इस सदी की सबसे बड़ी चुनौती है और जिसे हमने चुनौती समझा ही नहीं, तो सामना करने का सवाल ही कहाँ है। क्षेत्रीय मुद्दों की राजनीति में राष्ट्रीय हित तिरोहित होते चले गये।

सत्ता हस्तांतरण की उस भूल को हम आज तक अपनी व्यवस्था में निर्णय शक्ति के क्षरण, अथवा निर्णय की दुविधा के

रूप में देख सकते हैं। चाहे मामला तिब्बतियों का हो, कश्मीर का, उत्तर पूर्वी प्रदेशों का या फिर सरबजीत सिंह का। सही वक्त में वक्त के खिलाफ लिया गया निर्णय ही वर्तमान राजनीतिक व्यवस्था का दोष रहा है। हम गलतियाँ दुहराते रहे और गलतियों का इतिहास अपने आपको दोहराता रहा है। पत्थरों पर हमारी आस्था हो या नेतृत्व पर हमारा अंधविश्वास, लोकतंत्र के विकास के लिये दोनों ही स्थितियाँ दुविधाजनक है। गरीबों की बात करना आज महत्वहीन समझा जाता है, बेरोजगारों की कतारों को छोटा करने के प्रयत्न नहीं हो रहे हैं, श्रम की गरिमा घट रही है, मजदूर बुरी तरह सताए जा रहे हैं, छँटनी होना सहज कर्म हो गया है।

भारतीय लोकतंत्र में धर्मनिरपेक्षता के सवालों व बवालों के बीच आखिरकार तसलीमा नसरीन को देश छोड़ना पड़ा। अतिथि देवो भवः की इस वसुंधरा पर हम उन्हें विदाई भी नहीं दे सके। तसलीमा के जाने पर कहीं कोई प्रतिक्रिया नहीं हुई। यह सदी हमें कुछ दे या न दे पर यह ऐसा आईना जरूर दे गया जिसमें हम अपने धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र की धूमिल छवि को निहार सकें, अपने गिरेबाँ में झाँक सकें। तसलीमा को शायद अपनी धरती से कहीं अधिक हमारे नीले आकाश पर नाज था। जाहिदा हीना भी अपने लेख में अक्सर हिन्दुस्तान की सहिष्णुता व उदारता की तारीफ करती रही हैं। मगर यह भरम भी टूटा, जब हम तसलीमा नसरीन को पनाह नहीं दे सके।

अखबार व दृश्य-श्रव्य मीडिया का पहला समाचार क्रिकेट होता है, फिर राजनीतिक उठापटक एवं अपराध। साहित्य, कला, संस्कृति वगैरह उनकी नजर में मूल्यहीन हो चुके हैं। क्रिकेट के प्रति दीवानगी का आलम यह है कि मैच वाले दिन सबका बहाना क्रिकेट ही है। मैच देखने के अलावा कोई भी दूसरा काम हो पाना सम्भव नहीं है। हमारी कार्य संस्कृति में खेल के बहाने इस विलासिता ने हमारी सामुदायिक ऊर्जा को प्रभावित किया है। क्रिकेट के प्रति लोगों के पागलपन को देखकर लगता है, जैसे यह खेल, खेल न होकर कोई पौराणिक अथवा आध्यात्मिक आस्था का प्रसंग हो। मीडिया के लिये क्रिकेट का मसला आज चर्चा में किसी भी राष्ट्रीय या अन्तरराष्ट्रीय मुद्दे से अधिक महत्वपूर्ण मसला है। भारतीय व्यवस्था में क्रिकेट को प्राणवायु अथवा धड़कन के रूप में बाजार द्वारा एक जरूरत बनाकर कुछ इस तरह प्रस्तुत किया गया है कि लोग आते-जाते, खाते-पीते, सोते-उठते इस पर दीवानगी की हद तक फिदा हैं। जब हम यार-मित्रों से या रिश्तेदारी में अपनों से मिलते हैं तो अपने बाल-बच्चों की चर्चा न कर क्रिकेट के हालिया बयान या स्कोर पर हमारा ध्यान मुड़ जाता है, हमारी रुचि में यह बाजार

की घुसपैठ है, अतिक्रमण है। व्यवस्था से जुड़े सारे लोग क्रिकेट पर फिदा है और इसे किसी भी दृष्टि से नुकसानदायक नहीं माना जाता। हजारों लाखों लोग एक साथ एक ही समय में इस बहाने ठहर जाते हैं। क्या यह कार्य संस्कृति का हास नहीं है? क्या हमारे इस कृत्य से वक्त का एक बड़ा हिस्सा या अवसर जाया नहीं होता? गर्व करने वाले इस देश में चरित्र निर्माण से ही हमारी दृष्टि भटक जाये, इसे सदी का दुर्भाग्य ही कहा जा सकता है।

दूरदर्शन का नेशनल नेटवर्क जो कई सालों से अपने दायित्वों का बखूबी निर्वहन करता रहा है, वह आज मीडिया के दायरे से बाहर है और जो मीडिया में है वह मानवीय मूल्यों व चरित्र के प्रसंग से कोसों दूर है। वेब व नेट माध्यमों से जुड़े होने के बाजवूद हम विमर्श संवाद व संवेदना से लगभग कटे हुए हैं। कोई आत्महत्या करने पर तुला हो और लोग उसे बचाने के बजाय देखने व उकसाने में लग जायें और निजी चैनलों का यह साहस कि इसे खेल समझकर लाइव टेलीकास्ट की व्यवस्था भी कर दे, यह भारतीय मीडिया और हमारी संवेदना का वीभत्स रूप है। सूचना व संवाद की तमाम साधन सम्पन्नता के बाजवूद हम अपनी जनचेतना को बुद्धि सम्पन्न या ऊर्जा सम्पन्न नहीं मान सकते क्योंकि आज हमारा समाज नायक विहीन है। तमाम विकृतियों, विसंगतियों एवं कमजोरियों के बाजवूद हमारे बीच चेतना के सकारात्मक स्वर भी मुखरित होते रहे हैं। जन जब दम तोड़ता नजर आये, जब जीवन के आदर्श अपना मूल्य खोने लगे, भारतीय संस्कृति का वर्तमान जब त्रिशंकु की भूमिका में हो तब जनांदोलनों की भूमिका महत्वपूर्ण हो जाती है। सदी कोई वर्षों का लेखा मात्र नहीं है। वह समय का आईना है। इस आईने में हम इतिहास और भविष्य को देख सकते हैं। चेतना की इसी कसौटी पर हम सभी को विकास व प्रगति की नयी दृष्टि दे सकेंगे।

वे कुछ भी नहीं देखते, कुछ भी याद नहीं करते

रौ में है रक्ष-ऐ-उग्र कहां देखिये धमे
नै हाथ बाग पर है, न पा है रकाब में

मिर्जा गालिब का यह शेर सारतः आज के भारत की ऐतिहासिक परिस्थितियों को प्रतिबिम्बित करता है।

“रौ” का मतलब है रफ्तार, “रक्ष” का मतलब है घोड़ा, “उग्र” का मतलब है समय (इसका मतलब जिन्दगी भी है, लेकिन यहाँ इसका मतलब समय या युग है), “बाग” का मतलब घोड़े का “लगाम” और “रकाब” का मतलब पैर रखने का कुंडा।

इस तरह इस शेर का मतलब है- “समय का घोड़ा सरपट दौड़ रहा है, देखें यह कहां जा कर रुकता है/ घुड़सवार के हाथों में लगाम है न उसके पैर ही कुंडे में हैं।”

गालिब संभवतः 1857 के महान विप्लव के दौर में होने वाली घटनाओं के विषय में लिख रहे थे, जब घटनाएँ सरपट भाग रही थीं। लेकिन गालिब की शायरी की खूबसूरती यही है (जो उर्दू की ज्यादातर शायरी में दिखती है) कि यह स्थान और काल के मामले में सर्वकालिक है।

आज के भारत में, इतिहास की रफ्तार तेज हो गयी है। घटनाएँ पहले की तुलना में तेजी से घटित हो रही हैं और हर कोई अचम्भे में है कि आखिर इनका अंत कहां होगा।

मीडिया में एक के बाद एक घोटाले की रिपोर्ट आ रही है, जिनमें अमूमन उन राजनेताओं के लिप्त होने की बात होती है जो समाज के गरीब और वंचित तबकों के नाम पर कसमें खाते हैं।

टैलीग्रां (फ्रांसीसी कूटनीतिज्ञ) ने बोर्बो वंश के राजाओं के बारे में कहा था कि उन्होंने- “कुछ भी नहीं देखा, कुछ भी याद नहीं किया और कुछ भी नहीं भूला।” अधिकतर भारतीय राजनेता भी आज किसी बोर्बो की याद दिलाते हैं। वे अपने खिलाफ बढ़ते जनाक्रोश को नहीं देखते, जो सारी हदें पार करता जा रहा है। वे इस बात को याद नहीं करते कि बोर्बो शासकों, हैप्सबर्गों और रोमोनोवों का क्या हथ्र हुआ (पता नहीं, उन्हें इनके बारे में कुछ मालूम भी है या नहीं)। और वे अपनी सत्ता और धन-दौलत को नहीं भूलते, वे यही सोचते हैं कि यह सब हमेशा कायम रहेगा, जैसा कि दुर्भाग्य के शिकार उपरोक्त राजवंशों के लोग सोचा करते थे।

अर्थव्यवस्था निर्णायक कारक है। योजना आयोग के उपाध्यक्ष मोटेक सिंह आहलूवालिया ने हाल ही में कहा कि भारतीय सकल घरेलू उत्पाद वृद्धि दर में गिरावट आते-आते अब वह 5.5 फीसदी पर ठहर गयी है। यह सुहावनी तस्वीर स्टैण्डर्ड एण्ड पुअर

-मार्कडेय काट्जू

की इस चेतावनी के एकदम विपरीत है जिसमें कहा गया है कि 24 महीने में भारतीय अर्थव्यवस्था का संप्रभु कर्ज मूल्यांकन (क्रेडिट रेटिंग) घट कर “रद्दी हालत” में पहुँच जायेगा।

जिस चीज को डॉ. आहलूवालिया जैसे अर्थशास्त्री नहीं देखते, वह यही है कि भारत में समस्या यह नहीं है कि उत्पादन को कैसे बढ़ाया जाय, (भारी संख्या में इन्जीनियरों और तकनीशियनों तथा विपुल प्राकृतिक संसाधनों को देखते हुए इसे बड़ी आसानी से बढ़ाया जा सकता है) बल्कि समस्या यह है कि भारतीय जनता की क्रय शक्ति कैसे बढ़ायी जाय। आखिरकार, जो भी उत्पादन होता है, उसे बेचना भी तो होता है, लेकिन बिकेगा कैसे, जबकि हमारी 75-80 फीसदी जनता गरीब है, जो लगभग 25 रुपये रोज पर गुजर-बसर करती है?

यही नहीं, अगर सकल घरेलू उत्पाद की वृद्धि केवल धनी लोगों को और अधिक धनी बनाने के काम आती हो, जबकि गरीब जनता महँगाई के चलते और भी कंगाल होती जा रही हो, तो जाहिर है कि तैयार होने वाला माल बिक ही नहीं सकता, क्योंकि लोगों में खरीदने की क्षमता नहीं है।

हाल के महीनों में, भारत के विनिर्माण क्षेत्र में गिरावट आयी है। निर्यातोन्मुख उद्योगों को खास तौर पर करारा झटका लगा है, क्योंकि पश्चिमी देशों में मंदी आयी हुई है।

भारत की तुलनात्मक स्थिरता का आधार आबादी का कुल 15-20 फीसदी मध्यम वर्ग था, जिसकी कुल संख्या 120 करोड़ की भारी आबादी में लगभग 20-25 करोड़ होगी। हमारे माल और सेवाओं को यही तबका बाजार माँग मुहय्या करता है। आसमान छूती महँगाई के चलते इस मध्यम वर्ग की क्रय शक्ति में भी गिरावट आ रही है। इसी का नतीजा है कि भारतीय स्थिरता की जमीन तेजी से खिसक रही है, जिसे हालिया आन्दोलनों में देखा जा सकता है।

विकराल गरीबी, भारी पैमाने पर बेरोजगारी, आसमान छूती महँगाई, गरीबों के इलाज का आभाव, किसानों की आत्महत्याएँ, बाल कुपोषण, इत्यादि, ये सब एक विस्फोटक मिश्रण हैं। अगर बोर्बो अब भी नहीं जागे (फिलहाल जिसकी कोई उम्मीद मुझे दिख नहीं रही है) तो आने वाले समय में, भारत एक लम्बे समय तक चलने वाले उथल-पुथल और अराजकता की गिरफ्त में होगा और अब वह दिन बहुत दूर नहीं।

आत्मकथा

-नाजिम हिकमत

मेरा जन्म हुआ 1902 में
और जहाँ पैदा हुआ वहाँ एक मर्तबा भी वापस नहीं गया
मुझे पीछे लौटना पसंद नहीं
तीन साल का हुआ तो अलेप्पो में पाशा के पोते की खिदमत
की
उन्नीस की उम्र में दाखिल हुआ मास्को कम्युनिस्ट विश्वविद्यालय
में
उन्चास की उम्र में चेका पार्टी का मेहमान बन कर दुबारा
मास्को गया
और चौदह साल की उम्र से ही शायर हूँ मैं
कुछ लोगों को पेड़-पौधों और कुछ को मछलियों के बारे में
मालूम है सब कुछ
मुझे पता है जुदाई के बारे में
कुछ लोगों को जबानी याद हैं सितारों के नाम
मैं सुनाता हूँ अभाव के बारे में कविता
मैंने जेलखानों में और आलिशान होटलों में रातें गुजारीं
मैंने भूख और यहाँ तक कि भूख हड़ताल के बारे में भी जाना
मगर शायद ही कोई खाने की चीज हो
जिसका जायका न लिया हो
तीस की उम्र में वे मुझे फाँसी पर लटकाना चाहते थे
बयालीस की उम्र में वे देना चाहते थे शान्ति पुरस्कार
और दिया भी
छत्तीस की उम्र में चार वर्ग मीटर कंक्रीट तले आधा साल
गुजारा
उनसठ साल की उम्र में प्राग से भागा और हवाना पहुँचा
अठारह घंटे में
लेनिन को कभी देखा नहीं मगर उनके ताबूत के करीब था
1924 में
1961 में मैंने जिस समाधी का दौरा किया वह थी उनकी
किताबें
उन्होंने मेरी पार्टी से काट कर अलग करने की कोशिश की
मगर कामयाब नहीं हुए
और न ही मैं कुचला जा सका ढहते हुए बुतों के नीचे

1951 में एक नौजवान दोस्त के साथ खतरनाक समुद्री यात्रा की
1952 में अपना टूटा हुआ दिल लिए चार महीने चित लेटा रहा
मौत का इंतजार करते हुए
मुझे रश्क था उस औरत से जिसे मैं प्यार करता था
चार्ली चौप्लिन से मैं बिलकुल नहीं जलता था
मैंने अपनी औरत को धोखा दिया
अपने दोस्तों के पीठ पीछे मैंने कभी बात नहीं की
पी मगर हर रोज नहीं
खुशी की बात यह कि मैंने अपनी रोटी ईमानदारी से हासिल की
झूठ बोला इस तरह कि किसी और को शर्मिंदा न होना पड़े
इस तरह झूठ बोला कि दूसरों को चोट न पहुँचे
लेकिन बेवजह भी झूठ बोला
मैंने रेलों, हवाईजहाजों और मोटरगाड़ियों में सफर किया
जो मयस्सर नहीं ज्यादातर लोगों को
मैं ओपेरा देखने गया
ज्यादातर लोग तो जानते भी नहीं ओपेरा के बारे में
और 1921 के बाद मैं वैसी जगह नहीं गया जहाँ ज्यादातर लोग
जाते हैं
मस्जिदों चर्चों मंदिरों सिनागॉग जादूघरों में
मगर कहवा घरों में अड्डेबाजी जरूर की
मेरी रचनाएँ छप चुकी हैं तीस या चालीस भाषाओं में
हमारे देश तुर्की में तुर्की भाषा में उन पर रोक है
मुझे कैंसर नहीं हुआ अभी तक
और कोई वजह नहीं कि आगे भी हो
मैं प्रधानमंत्री या उसके जैसा कुछ भी नहीं बनूँगा कभी
और मैं नहीं चाहूँगा वैसी जिन्दगी जीना
अब तक शामिल नहीं हुआ किसी जंग में
या बमबारी से बचने के लिए रात के पिछले पहर किसी बिल में
नहीं दुबका
और कभी भी गोते लगाते हवाई जहाजों को देख कर सड़क पर
नहीं लेटा
मगर मुझे प्यार हो गया था लगभग सोलह की उम्र में
मुख्तसर बात ये दोस्तो
कि भले ही आज के दिन बर्लिन शहर में बड़बड़ा रहा हूँ गमगीन
मगर ये कह सकता हूँ कि मैं इंसान की तरह जिया
और किसे पता कि कब तक जिऊँगा
और मुझ पर क्या गुजरेगी।
(यह आत्मकथा 11 सितम्बर 1961 को बर्लिन में लिखी गयी थी।)

गाजा के बारे में खामोशी : महमूद दरवेश

(अगर गद्य कवियों के लिए कसौटी है तो फिलीस्तीनी शायर महमूद दरवेश इस पर पूरी तरह खरे उतरते हैं। गाजा पर इजरायली हमले के समय 2007 में लिखी गयी उनकी इस रचना का अंग्रेजी अनुवाद सिनान अन्तून ने किया था। हिंदी अनुवाद उसी पर आधारित है।)

गाजा अपने रिश्तेदारों से बहुत दूर और दुश्मनों के करीब है, क्योंकि जब कभी धमाका करता है गाजा, तो यह एक टापू में तब्दील हो जाता है और कभी यह धमाका करना बंद नहीं करता। इसने दुश्मन के चेहरे को खरोंचा, उसके मंसूबों को ध्वस्त किया और वक्त के साथ उसके इत्मिनान को रोक दिया।

क्योंकि गाजा में वक्त कुछ अलग ही चीज है।

क्योंकि गाजा में गैरतरफदार नहीं है वक्त का मिजाज।

यह लोगों को अपने इरादे टंडा करने पर मजबूर नहीं करता, बल्कि धमाका करने और हकीकत से टकराने की सीख देता है।

वक्त यहाँ बच्चों को बचपन से बुढ़ापे की ओर नहीं ले जाता, बल्कि दुश्मन से पहली झड़प के साथ ही उन्हें इन्सान बना देता है।

गाजा में वक्त आराम नहीं, बल्कि तपती दोपहर की आंधी है। क्योंकि गाजा के उसूल बिलकुल अलग हैं, बिलकुल अलग।

जो दूसरे के कब्जे में हो, उसका उसूल सिर्फ यही होता है कि किस हद तक वह कब्जे का विरोध करता है। सिर्फ यही एक मुकाबला है वहाँ। गाजा इस जालिम और शानदार उसूल को जानने-समझने का आदी हो गया है। वह इसे किताबों से, उतावले स्कूली सेमिनारों से, धुआँधार प्रचार करते भोंपुओं से या गानों से नहीं सीखता। वह महज तजुर्बे और कार्रवाई से सीखता है इसे, जो इश्तहार और दिखावे के लिए नहीं किया जाता।

गाजा का गला नहीं है। इसकी सुराखें हैं जो बोलती हैं पसीने, खून और आग की जुबान। इसीलिए दुश्मन इससे मौत की हद तक नफरत करता है और जुर्म की हद तक डरता है और इसीलिए इसके रिश्तेदार और दोस्त शरमाते हुए इससे प्यार करते हैं जो समय-समय पर जलन और खौफ की वजह बन जाता है, क्योंकि गाजा अपने दुश्मनों और दोस्तों, दोनों के लिए एक ही साथ जालिमाना सबक और चमकदार मिशाल है।

गाजा कोई बेहद खूबसूरत शहर नहीं है।

इसके समुद्री किनारे अरबी शहरों के किनारों से ज्यादा नीले नहीं हैं।

इसके संतरे भूमध्य सागर के पूर्वी छोर के निहायत खूबसूरत संतरों जैसे नहीं हैं।

गाजा सबसे अमीर शहर नहीं है।

यह सबसे खूबसूरत और सबसे बड़ी जगह नहीं है, मगर एक भरे-पूरे वतन की तारीख के बराबर है, क्योंकि दुश्मन की निगाह में यह कहीं ज्यादा बदसूरत, कंगाल, दुखी और शातिर है। क्योंकि दुश्मन के मिजाज और सुकून को परेशान करने में हम सब में इसे ही सबसे ज्यादा महारत हासिल है। क्योंकि उसके लिए यह एक खौफनाक ख्वाब है। क्योंकि यह बारूदी संतरा है, बिन बचपन के बच्चे, बिन बुढ़ापे के बूढ़े और बगैर ख्वाहिश की औरतें। इन्हीं चीजों के चलते यह हम सब में सबसे खूबसूरत, पाक और अमीर है और सबसे ज्यादा प्यार के काबिल है।

हम गाजा के साथ नाइंसाफी करते हैं जब हम इसकी नज्मों की तलाश करते हैं, इसलिए हमें गाजा की खूबसूरती को बिगाड़ना नहीं चाहिए। इसमें जो सबसे सुन्दर है वह ये कि ऐसे वक्त यह शायरी से महरूम है जब हमने कोशिश की कि दुश्मन पर शायरी के जरिये जीत हासिल करें, और इस तरह हमने खुद पर भरोसा किया और बहुत खुश थे कि दुश्मन हमें गाने दे रहा है। हमने उसे जीतने दिया, और फिर गाते-गाते जब हमारे होंठ खुशक हो गये, तब हमने देखा कि दुश्मन ने शहरों, किलों और सड़कों की तामीर पूरी कर ली। हमने गाजा के साथ नाइंसाफी की जब हमने इसे मिथ में तब्दील कर दिया, क्योंकि हम इस बात से नफरत करेंगे जब हम पायेंगे कि यह एक छोटे से गरीब शहर के सिवा कुछ भी नहीं जो कब्जे की मुखालफत करता है।

हम नाइंसाफी करते हैं जब इस बात पर ताज्जुब करते हैं- वो क्या था जिसने इसे मिथ में बदल दिया? अगर हममें वकार होता तो हमने सारे शीशे चकनाचूर कर दिये होते और अगर खुद के खिलाफ बगावत करने से इनकार करते तो इस बात पर रोते और लानत भेजते। हम गाजा के साथ नाइंसाफी करते हैं जब इसे आसमान पर चढ़ाते हैं, क्योंकि इसका जादुई असर हमें इंतजार के आखिरी छोर तक ले जायेगा और गाजा कभी हमारे हाथ नहीं आयेगा। गाजा हमें आजाद नहीं करता। गाजा के पास घोड़े, हवाईजहाज और जादू की छड़ी नहीं हैं, राजधानियों में दफ्तर नहीं हैं। गाजा हमारी खूबियों से खुद को आजाद करता है और साथ ही हमारी जुबान को गाजाओं से आजाद करता है। जब ख्वाबों में हमारी मुलाकात इसके साथ हो तो शायद यह हमें पहचान भी न पाये, क्योंकि गाजा का जन्म आग से हुआ था, जबकि हम लावारिस

छोड़ दिये गये मकानों में इंतजार करते और रोते-बिलखते पैदा हुए थे।

ये सच है कि गाजा के अपने खास हालात और इसकी अपनी इंकलाबी रवायतें हैं। लेकिन इसके राज कोई गड़बड़झाला नहीं- कब्जे के मुखालफत की इसकी लड़ाई आमफहम है और आपस में मजबूती से जुड़ी हुई है और इसे पता है कि उसे क्या चाहिए (यह दुश्मन को अपनी सरहद के बाहर खदेड़ना चाहता है)। कब्जे की मुखालफत की लड़ाई और आम अवाम के बीच का रिश्ता वैसा ही है जैसे चमड़े और हड्डी के बीच, न कि उस्ताद और शागिर्द के बीच। गाजा में मुखालफत की लड़ाई किसी पेशे में या संस्था में नहीं बदली है।

इसे किसी का दुमछल्ला बनना कबूल नहीं और अपनी किस्मत किसी के दस्तखत या मुहर के साथ नथ्थी करना भी मंजूर नहीं।

यह इस बात की भी परवाह नहीं करता कि हम इसके नाम, तस्वीर या वाक्पटुता से वाकिफ हैं या नहीं। यह नहीं मानता कि यह मीडिया के लिये कोई मसाला है। यह कैमरे के लिए तैयारी नहीं करता और न ही अपने चेहरे पर मुस्कराहट थोपता है।

इन सबकी न तो इसे ख्वाहिश है, न हमलोगों को।

इसीलिए तो सौदागरों की निगाह में गाजा एक खराब कारोबार है और इसीलिए अरबों की निगाह में एक लाजवाब नैतिक खजाना।

गाजा की खूबसूरती यह है कि हमारी आवाज इस तक नहीं पहुँचती। कोई चीज इसे टस से मस नहीं करती; कोई चीज इसके घूंसे को दुश्मन के चेहरे से इधर-उधर नहीं कर पाती। अगर कोई हमसे कहे भी तो हम चाँद के पूरब की ओर या मंगल की खोज हो जाने के बाद उसके पश्चिम की ओर फिलीस्तीनी रियासत का ढाँचा खड़ा नहीं करेंगे। गाजा इन्कार के लिये हरदम तैयार है... भूख और इन्कार, प्यास और इन्कार, बेदखली और इन्कार, अत्याचार और इन्कार, घेराबंदी और इन्कार, मौत और इन्कार।

हो सकता है कि दुश्मन गाजा पर जीत हासिल कर ले (तूफानी समन्दर एक छोटे से टापू पर जीत हासिल कर सकता है... वे इसके सारे दरख्तों को काट कर गिरा सकते हैं)।

वे इसकी हड्डियाँ तोड़ सकते हैं।

वे इसके बच्चों और औरतों के भीतर टैंक घुसा सकते हैं। वे इसे समन्दर, रेत या लहू में डुबो सकते हैं।

लेकिन यह झूठ को नहीं दुहरायेगा और हमलावरों के आगे “हाँ” नहीं कहेगा।

यह लगातार धमाका करता रहेगा।

यह मौत नहीं, न ही यह खुदकुशी है। यह गाजा का अपना खास अंदाज है इस बात के ऐलान का कि उसे जीने का हक है। यह लगातार धमाका करता रहेगा। □

उनकी पराजय का घोषणा पत्र होगा फिलीस्तीन

-बोधिसत्व

जैसे घर होगा तो
बाहर-भीतर कहीं न कहीं
चूल्हा होगा
उसे जलाने वाले लोग होंगे
वैसे ही सूर्य के होने पर
उसकी ललाई म.
रहेगा फिलीस्तीन।

वे डरते हैं फिलीस्तीन से
वे किसी भी उठ रहे देश से
उसकी आवाज से डरते हैं
उनके नक्शे म. न होने
का मतलब नहीं कि पूरे भूगोल म. नहीं है फिलीस्तीन

उनकी पसंद है झुके हुए आदमी और देश
उनके आँख की किरकिरी है फिलीस्तीन।

पहाड़ के नीचे नहीं दबा होगा फिलीस्तीन
पखुरों और गट्टों म. होगा
रेत म. डूबा होगा फिलीस्तीन
खाई-खंदक म. होगा
कानाफूसी-चहल-पहल म. होगा
खेतों म., खुले मैदानों म. होगा फिलीस्तीन
पाताल म. नहीं होगा फिलीस्तीन

आँखों की रंगीन पुतलियों म. होगा
रीढ़ की हड्डियों म. होगा फिलीस्तीन

खटने के वक्त पसीने की तरह होगा
उसके स्वाद की तरह होगा फिलीस्तीन

होगा किसी भी सूरत म.
उनकी पराजय का घोषणा पत्र होगा
फिलीस्तीन।

मोहक विज्ञापन चेतना को कैद और कुंद करने की साजिश

-विक्रम प्रताप

विज्ञापन सभी जगह है। रात के अंधेरे में बहुमंजिली इमारतों पर चमकते विशालकाय बोर्ड में, सुन्दर पोशाकों पर छपे, हमारे तन से लिपटे, अखबारों के पन्नों पर पटे-पड़े, टीवी में कार्यक्रमों के दौरान खीर में कंकड़ की तरह हर निवाले में, कम्पनियों के विज्ञापन कहीं भी, कभी भी हमें मुँह चिढ़ाते रहते हैं। हमारी जिंदगी के हर मोड़ पर इनकी दखलंदाजी होती है। मीडिया की गिद्ध दृष्टि हमेशा हमारा पीछा करती है। ताज्जुब यह है कि हम पर पकड़ बनाने वाली कम्पनियों के विज्ञापन हमें अपना सा लगती हैं। हम अपने पसंदीदा ब्राण्ड की तौहीन बर्दाश्त नहीं कर पाते। कई बार यह दोस्तों के बीच तू-तू, मैं-मैं का कारण बन जाता है। आज पूरी दुनिया एक बाजार में बदल चुकी है। इसकी मार से बचना आज हमारे लिए असम्भव-सा हो गया है। किसी कम्पनी के माल का ग्राहक मात्र बन जाने से खुद को बचा पाना आज बहुत ही कठिन हो गया है। यही तो विज्ञापन का कमाल है।

हम अपने विचारों के प्रति हमेशा चौकन्ने रहते हैं। उनके खिलाफ कुछ गलत टिप्पणी कर दे तो हम उस व्यक्ति का जबड़ा तोड़ने पर आमादा हो जाते हैं। लेकिन टीवी के विज्ञापन हमारे घर में घुसकर हमारे भाई-बहन, माँ-बाप और बच्चों को लगातार अपने विचारों की तरफ मोड़ते हैं, वे उनमें मीठा जहर भरते रहते हैं, फिर भी हम खामोश रहते हैं। लोगों को अपनी निजी जिंदगी में अपने दोस्तों का हस्तक्षेप बर्दाश्त नहीं, लेकिन लगातार बिना उनकी इजाजत के निजी जिंदगी में हस्तक्षेप करते विज्ञापनों और टीवी कार्यक्रमों को भला वे रोक पायेंगे? विज्ञापन हर समय हमें परेशान करते हैं और हम उन्हें बर्दाश्त करते हैं। आखिर क्यों? विज्ञापनकर्ताओं को हमारे साथ ऐसा मनमाना व्यवहार करने का अधिकार किसने दिया? मनमाने तरीके से विज्ञापनों में निहित मूल्य ढूँढने के लिए हमने कब अपने दिमाग का एक कोना उन्हें मुफ्त में सौंप दिया। लोकतंत्र का चौथा स्तम्भ मीडिया जो जनता का हितैषी होने का दावा करता है, आखिर क्यों बिना हमारी अनुमति के कम्पनियों के माल खरीदने के लिए हमें प्रभावित करता रहता है?

विज्ञापन काफी मोहक होते हैं, इसलिए इनका प्रभाव काफी गहरा होता है। मीठा जहर ज्यादा खतरनाक होता है। अपने खाली

वक्त का उपयोग हम पहाड़ों की सैर करके, किसी सामाजिक काम में लगकर या सगे-सम्बन्धियों और दोस्तों के साथ भेंट-मुलाकात में कर सकते हैं। लेकिन लोग अपना ज्यादातर समय टीवी के सामने गुजार देते हैं। टीवी के कार्यक्रम हमें मनोरंजन के नाम पर एक मायालोक में विचरण कराने के सिवा कुछ नहीं देते। लेकिन इन्सान उसके आगे एक ऐसे आकर्षण में फँस जाता है कि अपनी सुध-बुध खो बैठता है। इसी सम्मोहन का फायदा उठाकर विज्ञापनदाता हमारे मन में अपने माल के प्रति मोह जगाते हैं। यह हमारी निजता का कितना बड़ा उल्लंघन है। कई बार इनके प्रभाव में आकर परिवार में कलह-विग्रह बढ़ जाता है। ये आपसी सम्बन्धों में दरार डाल देते हैं।

टीवी पर कोई कार्यक्रम देखते समय अचानक किसी माल का विज्ञापन शुरू हो जाता है। अपने लोकतांत्रिक अधिकार चेतना पर बार-बार होने वाले इन हमलों के बावजूद लोग केवल कुढ़ते-खीझते हैं और चैनल बदल देते हैं। यह केवल कार्यक्रमों में खलल ही नहीं, बल्कि अचेतन रूप में हमारे मस्तिष्क को प्रभावित करने और हमारे विचारों और अभिरुचियों को प्रदूषित करने की साजिश है। एक बार दूषित विचारों की चपेट में इंसान आ जाये तो वह उनसे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। इन्टरनेट के बढ़ते प्रभाव के बावजूद विज्ञापन प्रसारित करने का सबसे बड़ा साधन टीवी है। दरअसल कम्पनियों ने टीवी चैनलों को अपनी उपभोक्ता वस्तुओं के लिए ग्राहकों की भीड़ जुटाने की जिम्मेदारी दे रखी है। इन्होंने इस जिम्मेदारी को बहुत ही बढ़-चढ़ कर निभाया है। वे इतने आकर्षक और विविधतापूर्ण कार्यक्रम प्रसारित करते हैं कि लोग अपना कीमती समय टीवी के सामने गुजारते रहते हैं। अमरीका में हर व्यक्ति प्रतिदिन औसतन चार घण्टे से अधिक समय टीवी देखता है। हमारे देश के शहरों की भी यही हालत है। गाँव में बिजली की आपूर्ति कम होने के कारण शायद यह औसत कुछ कम हो, लेकिन वहाँ भी लोगों ने बैट्री-इन्वर्टर की व्यवस्था कर ली है। इस तरह अपने मालों के प्रचार-प्रसार के लिए पूँजीपतियों को टीवी के रूप में बहुत ही आसान, तीव्रगामी और आकर्षक माध्यम हासिल हुआ है। जो कार्यक्रम भीड़ नहीं जुटा पाते, टेलीविजन रेटिंग प्वाइन्ट

(टीआरपी) नहीं बढ़ा पाते, वे चाहें जितने बेहतरीन हों, उन्हें हटा दिया जाता है। कार्यक्रम निर्माता भीड़ जुटाने के लिए नैतिकता, सामाजिक जिम्मेदारी और संवैधानिक दायित्व को अपने जूते की नोक पर रखते हैं। वे खुलकर अश्लीलता परोसते हैं और एक ब्रह्मवाक्य में कि “लोग ऐसा ही पसन्द करते हैं।” अपने कुकर्मों को छुपाते हैं। इसी शब्दाडम्बर का सहारा लेकर वे तमाम कूड़ा-कचरा और गंदगी परोसते हैं और नौजवान पीढ़ी को गुमराह करते हैं। सेंसर बोर्ड और संविधान ने अपनी आँखों पर पट्टी बाँध ली है। आलम यह है कि खुद निर्माता-निर्देशक के नंगा नाचने पर भी अगर भीड़ जुटे तो वे इससे भी बाज नहीं आएँ।

टीवी कार्यक्रम साहित्य या संगीत की तरह अमूर्त और गम्भीर नहीं होते। मूर्त रूप में दिखने वाली घूमती-फिरती छवियाँ ज्यादा असरदार होती हैं। इन्हें देखकर लोग चिन्तन-मनन नहीं करते हैं। जिंदगी के किसी यथार्थ चित्र की तरह ये दृश्य हमारे दिमाग में ज्यों के त्यों रच-बस जाते हैं, भले ही वे पूरी तरह काल्पनिक क्यों न हो। श्रव्य-दृश्य माध्यम की यही ताकत है। वरना हम अपने हमदर्द मित्रों से भी ज्यादा कैटरिना कैफ और शाहिद कपूर को अपना करीबी कैसे मान लेते, जिनसे न कोई बातचीत होती है, न मुलाकात हुई हो और न ही हमारी किसी कठिन घड़ी में उनका कोई सहयोग मिला हो। फिर कैसे वे हमारी जिन्दगी के नायक-नायिका हो जाते हैं, क्यों हम उनके फैन हो जाते हैं। सच तो यह है कि टीवी के माध्यम से उनकी छवि चाहे-अनचाहे हमारे दिमाग में घुसेड़ दी जाती है। कार्यक्रम निर्माता भी इस माया जाल के नकारात्मक पहलुओं का आभास भी नहीं होने देते। सबकुछ सहज और सामान्य लगे, यही उनकी कलाकारी है।

तेजी से गुजरते दृश्य के बारे में कोई दर्शक न तो ठहर कर सोच सकता है और न ही गलत महसूस होने पर उसका प्रतिकार कर सकता है। बेहुदे और बेसिर-पैर के कार्यक्रमों की तो बात ही क्या, डिस्कवरी जैसे चैनल भी गैर महत्त्वपूर्ण कार्यक्रमों को बढ़ा-चढ़ा कर पेश कर रहे हैं। ये कार्यक्रम हमें सामाजिक समस्याओं से दूर करके इनके खिलाफ हमारे आक्रोश और संघर्ष को कमजोर करते हैं। इस तरह से हमें सामाजिक रूप से निष्क्रिय और तटस्थ बनाते हैं। घण्टों टीवी के सामने बैठे रहने का नतीजा होता है सबकुछ बर्दाश्त करते चले जाना। मुर्दा शान्ति से भर जाना। ऐसी गफलत फैलायी गयी कि टीवी के निष्क्रिय माध्यम के बजाय मोबाइल और इन्टरनेट दोतरफा माध्यम है इसीलिए इन माध्यमों का इस्तेमाल ज्यादा होने लगा है जिनके जरिये हम अपनी प्रतिक्रिया भी भेज सकते हैं। लेकिन तकनीकी तौर पर अधिक उन्नत होने के बावजूद इन्टरनेट और

मोबाइल टीवी की लोकप्रियता के मुकाबले बहुत पीछे हैं।

विज्ञापन का असली उद्देश्य यही है कि इसके जरिये उत्पादों की गुणवत्ता, मूल्य और इस्तेमाल के तरीकों की जानकारी दी जाय। लेकिन टीवी के जरिये प्रसारित विज्ञापन ऐसा कुछ भी नहीं करते। इसके बदले वे मालों की नुमाइश आकर्षक कलाकारों के जरिये कराते हैं। जैसे खेलते समय प्यास लगने पर खिलाड़ी कोल्ड ड्रिंक की तरफ लपकते हैं। इसे प्यास बुझाने के सर्वश्रेष्ठ साधनों के रूप में दिखाया जाता है। लेकिन कोल्ड ड्रिंक में कितना कीटनाशक मिला हुआ है और वह कितना हानिकारक है, इसके बारे में जानकारी देना विज्ञापनकर्ता की जिम्मेदारी नहीं होती। विज्ञापनदाता अपने खर्च का पाई-पाई वसूल लेना चाहता है। वह लोगों को अपनी शर्तों पर सामान खरीदने के लिये तैयार करता है और उनके सामने केवल दो ही विकल्प छोड़ता है, वे हाँ करें या ना। कोई तीसरा विकल्प नहीं होता और दिन में सैकड़ों बार हमें अलग-अलग सामानों के लिए अपनी राय देनी होती है कि हम फलों माल खरीदना चाहते हैं या नहीं।

प्रसारण कम्पनियों, समाचार पत्रों और मीडिया को सरकार सार्वजनिक जमीन और अन्य संसाधन कौड़ियों के मोल सौंप देती है। लेकिन मीडिया संस्थानों के मालिक जनता की सेवा करने के बजाय इन सुविधाओं का निजी फायदा उठाते हैं। वे विज्ञापन के जरिये अरबों की सम्पत्ति बटोरते हैं। सच तो यह है कि लोगों को विज्ञापन की कोई जरूरत है ही नहीं। उन्हें जिस सामान की जरूरत होगी, वे उसे खुद ही ढूँढकर खरीद लेंगे। फिर विज्ञापन के मद में इतनी अधिक बिजली, पानी, पेड़-पौधों और अन्य संसाधनों की बर्बादी कहाँ तक उचित है?

सास-बहू के किस्से पर आधारित धारावाहिक, जासूसी नाटक, राजनीतिक उठा-पटक? खेल समाचार, रियलटी शो और धार्मिक कार्यक्रमों के जरिये टीवी के सामने भीड़ जुटाई जाती है और दर्शकों की उस जमात को विज्ञापन कम्पनियों के हाथों बेच दिया जाता है। जितने अधिक दर्शक, उतना महँगा विज्ञापन। यही उनकी मोटी कमाई का जरिया है। लेकिन ऐसा नहीं कि टीवी का हर दर्शक विज्ञापन देखकर तुरन्त उसके प्रभाव में आ जाता है और न ही विज्ञापन उन्हें बाध्य करता है कि वे तुरन्त विज्ञापित माल खरीदने दौड़ पड़ें। फिर भी, करोड़ों दर्शकों में से अगर सिर्फ 1 या 2 प्रतिशत लोग भी उनके द्वारा विज्ञापित माल खरीदें तो यह संख्या लाखों में होती है और इस तरह उनका उद्देश्य पूरा हो जाता है। एक ही विज्ञापन को बार-बार प्रदर्शित करने से उससे प्रभावित होने वाले लोगों की संख्या बढ़ती जाती है। और बार-बार देखने पर वह

दर्शकों के अवचेतन में बस जाती है। वे दुकान पर जाते ही किसी खास ब्राण्ड का सामान माँगते हैं। कम्पनियाँ यूँ ही इन पर अरबों रुपये पानी की तरह नहीं बहा रही हैं। हमारे पसंदीदा कलाकार जिन उत्पादों पर खुद विश्वास नहीं करते और अपने जीवन में एक बार भी इस्तेमाल नहीं करते, उन्हीं सामानों का चन्द खनकते सिक्कों के लोभ में झूठ बोलकर हमारे सामने प्रचार करते हैं और मजेदार बात यह कि ये मक्कार लोग हमारे आदर्श या नायक भी बन जाते हैं।

कुछ टीवी चैनल बच्चों को लक्ष्य करके फिल्में, कार्टून और विज्ञापन प्रसारित करते हैं। इन कार्यक्रमों के जरिये वे बच्चों की चेतना अपने मनचाहे साँचे में ढालते हैं। बच्चे असली दुनिया से कट जाते हैं। इसी उम्र में वे प्रकृति और जिंदगी के रहस्य को अपने निजी अनुभव से जानते-समझते हैं। अपने हमउम्र बच्चों के साथ खेल-कूद और लड़ाई झगड़े से दोस्ती-दुश्मनी के मायने समझते हैं। कठिन परिश्रम करने से उनके मन में श्रम की गरिमा स्थापित होती है। लेकिन टीवी का कमाल देखिए कि उनका बचपन हैरी पॉटर और कार्टूनों की नकली दुनिया में गुम हो जाता है। बड़े होने पर ऐसे पप्पुओं को सामान्य व्यवहारिक ज्ञान न होने के चलते हर जगह हँसी का पात्र बनना पड़ता है। इससे इनमें समूह से अलग-थलग रहने की प्रवृत्ति पैदा हो जाती है। उन्हें इस नरक की ओर धकेलने में उनके माँ-बाप का भी हाथ होता है, जो सोचते हैं कि “बच्चा जितनी देर टीवी देखेगा, उतनी देर शैतानी नहीं करेगा।” यही सोचकर वे चैन की साँस लेते हैं। वे यह नहीं समझ पाते कि शैतानी करके ही बच्चा सीखता है। सामानों को उठाने और फेंकने से ही उसे हल्की और भारी चीजों का अन्तर पता चलता है। दीवार पर आड़ी-तिरझी रेखाएँ खींचने पर चित्र और पृष्ठभूमि के अन्तरसम्बंधों की उसकी समझ साफ होती है। ऐसी न जाने कितनी शरारतें बच्चों को जिन्दगी की सीख देने वाले छोटे-छोटे प्रयोग होते हैं, जिससे वह प्रत्यक्ष ज्ञान हासिल करता है। इससे काटकर बच्चे को टीवी के सामने झोंक कर उनसे राहत पाना आसान भले ही है, लेकिन इससे बच्चे का व्यक्तित्व कुण्ठित हो जाता है और उसकी जिन्दगी नरक हो जाती है। बाल मनोविज्ञान की इन बुनियादी बातों को अच्छी तरह जानते हुए भी विज्ञापन कम्पनियाँ बच्चों को अपना शिकार बनाती हैं। बल्कि अपने इस ज्ञान का इस्तेमाल वे विज्ञापन की कारगर रणनीति बनाने के लिए करती हैं। अबोध बच्चों के प्रति इस आपराधिक कुकृत्य में चाहे अनचाहे उनके अभिभावक भी शामिल होते हैं।

एक अध्ययन के अनुसार अपनी प्राथमिक शिक्षा पूरी करने के दौरान अमरीका में एक बच्चा टीवी पर औसतन 8000 हत्यायें

देखता है और 18 साल की उम्र तक वह दो लाख हिंसक घटनाओं का चश्मदीद होता है। टीवी के 69 प्रतिशत कार्यक्रम हिंसक होते हैं। बच्चे इन हिंसक दृश्यों के इतने आदी हो जाते हैं कि जघन्यता के प्रति उनका बोध और संवेदना बहुत ही कम हो जाता है। अमरीका में बच्चों द्वारा जरा सी बात पर अपने प्रियजनों और सहपाठियों की हत्या कर देने की घटनाओं की बाढ़ सी आ गयी है। अगर टीवी पर दिखायी जाने वाली हिंसा इसी तरह बनी रही तो क्या अमरीकी समाज इस मानसिक रुग्णता से उबर पायेगा? दुनिया भर में वह किन विचारों का वाहक है? लोगों ने जब वहाँ ऐसे कार्यक्रमों का विरोध किया और इन्हें बंद करने की माँग उठायी तो मीडिया ने इसे अपनी “अभिव्यक्ति की आजादी” का हनन बताया। सड़े-गले विचारों को प्रचारित करने में इस संविधान प्रदत्त अधिकार का वे हमेशा ही गलत इस्तेमाल करते हैं। पिछले कुछ वर्षों से कमोबेश यही हालत हमारे देश में भी है।

विज्ञापन का एक ओर खतरनाक पहलू श्रम की गरिमा का नाश करके हमारी नयी पीढ़ी को पथ भ्रष्ट करना है। यह तीन-तिकड़म, चोरी और सीनाजोरी के जरिये अपनी मनपसंद चीजें हासिल करने की प्रवृत्ति को बढ़ावा देता है। समझदार माँ-बाप बच्चों में शुरू से मेहनत के प्रति लगाव पैदा करने की कोशिश करते हैं। बच्चों को कपड़े और घर की सफाई करना सिखाते हैं। वे बताते हैं कि बिना श्रम के कुछ भी हासिल करना चोरी है। हमें कठिन परिश्रम से नहीं घबराना चाहिए। लेकिन विज्ञापन के जरिये ऐसे सकारात्मक मूल्यों को रौंदा जा रहा है। वे उपभोक्ता वस्तुओं के प्रति लोगों की भूख बढ़ाते हैं। अक्सर वे उसे हासिल करने का सही तरीका नहीं बताते और कभी-कभी तो वे उन तरीकों को बढ़ावा देते हैं जो इन्सान को गलत रास्ते की ओर ले जाते हैं, जैसे- रात में दुकानें बंद हैं, उसी समय हमारे कलाकार को प्यास लगती है और वह दुकान का शटर तोड़कर किसी खास ब्राण्ड की कोल्ड ड्रिंक से अपनी प्यास बुझा लेता है। इसी तरह उपभोक्ता माल हासिल करना जिन्दगी का लक्ष्य बना दिया जाता है। लोगों के मन में माल ऊँची जगह बना लेते हैं। उन्हें पाने के लिए सभी इन्सानी रिश्तों के बन्धन तोड़ दिये जाते हैं। ये नये युग के देवता हैं। उन्हें भक्ति के जरिये नहीं, चोरी, घूस, दहेज और परिचित लोगों को धोखा देकर हासिल किया जाता है। इसी तरह हासिल की गयी सम्पत्ति से अपने पुरातन देवताओं को खुश करने के लिए लड्डू चढ़ाये जाते हैं, दान-धर्म का काम किया जाता है। इसीलिए अपराध और धर्म दोनों साथ-साथ उन्नति कर रहे हैं।

हमारे देश में समोसा, कचौरी, दही-बड़ा, इडली, डोसा,

जलेबी और लजीज खानों की अनगिनत किस्में हैं। लेकिन विज्ञापन के जरिये सबसे स्वादिष्ट खाने के तौर पर पिज्जा को स्थापित किया जा रहा है। भारतीय विविधतापूर्ण खाने और पिज्जा के बीच सीधी प्रतियोगिता के बजाय लाखों डॉलर खर्च करके उग्र विज्ञापन के जरिये जनमानस में पिज्जा को थोपा जा रहा है। इन दोनों तरह के व्यंजनों के बीच सच्ची प्रतियोगिता तभी सम्भव है, जब दोनों के विज्ञापन में बराबरी हो। लेकिन किसी नुककड़ पर जलेबी की दुकान खोलने वाला हलवाई क्या कई-कई देशों में व्यापार करने वाली पिज्जा की कम्पनी मैक्डोनाल्ड को विज्ञापन की होड़ में पछाड़ सकता है। गलत प्रतियोगिता और संसाधनों की बर्बादी को देखते हुए न्यायोचित यही है कि विज्ञापन को पूरी तरह बंद कर दिया जाय। सभी को यह छूट हो कि वे अपना सामान सस्ता, स्वादिष्ट, स्वास्थ्यवर्धक और उच्च गुणवत्ता के आधार पर बेचें। उपभोक्ता खुद निर्णय कर लेगा कि उसे क्या खरीदना है। लेकिन आज की परिस्थितियों में यह असम्भव है, क्योंकि हमारे देश के शासकों ने विदेशी पूँजी से साँठ-गाँठ कर ली है। विदेशी कम्पनियाँ अच्छे उत्पाद के जरिये प्रतियोगिता करने के बजाय उग्र विज्ञापन का सहारा लेती हैं और हर तरह की प्रतियोगिता का गला घोटकर पूरी तरह बाजार पर कब्जा जमा लेती हैं।

इतना ही नहीं, विज्ञापन के माध्यम से देशी पूँजी के मालिक सड़ी-गली मूल्य-मान्यताएँ हमारे ऊपर थोप देते हैं। पिज्जा श्रेष्ठ संस्कृति का प्रतीक बन जाता है, समोसा पिछड़ी संस्कृति का। इस तरह शिक्षित और सम्पन्न लोगों में विदेशी संस्कृति के अंधानुकरण की भावना पैदा होती है। इससे उनमें श्रेष्ठता का मिथ्याबोध जन्म लेता है। किसी खास ब्राण्ड का टीवी, फ्रिज, कूलर और कार रखने वाला इंसान श्रेष्ठ है, चाहे वह भ्रष्टाचारी और नैतिक रूप से पतित ही क्यों न हो। नैतिक और सदाचारी व्यक्ति अगर गरीब है तो उसकी समाज में कोई हैसियत नहीं। हैसियत और सम्मान पाने के लिए किसी आदमी का नैतिक और ईमानदार बने रहना जरूरी नहीं। पैसे की ताकत ही सब कुछ है। देशी पूँजी के साथ मिलकर विदेशी पूँजी विज्ञापन के जरिये समाज को नये साँचे में ढाल रही है। वे एक ऐसा माहौल तैयार कर रहे हैं, जिसमें हमारी चेतना उनकी गिरफ्त में आती जा रही है। हमारे खाने-पहनने का तरीका, हमारी नैतिकता और जिन्दगी जीने का तरीका सात समुन्द्र पार बैठे विदेशी पूँजी के मालिक तय करते हैं।

पुरुष द्वारा डियोड्रेंट छिड़कने पर अर्द्धनग्न लड़कियाँ उसकी ओर खिंचती चली आती हैं। ऐसे कामुक विज्ञापनों के जरिये औरत की गरिमा को रौंदा जा रहा है। यह व्यवस्था सैक्स के प्रति बहसी

और पाशविक रवैया अपनाने वाले लम्पटों की जमात पैदा कर रही है। ऐसे नौजवान ही पूँजी के हाथ की कठपुतली बन सकते हैं, जो किसी स्त्री को इन्सान समझने के बजाय उपभोग की वस्तु समझने लगे हैं। सांस्कृतिक पतन को लेकर हाय तौबा मचाने वालों की तलवारें इस पतन के लिए जिम्मेदार पूँजी के खिलाफ क्यों नहीं उठती। वे यह देखने से क्यों इन्कार कर देते हैं कि विज्ञापनों द्वारा प्रचारित-प्रसारित पश्चिमी संस्कृति और कुछ नहीं, पूँजी की संस्कृति है।

यह तर्क दिया जाता है कि गन्दे कार्यक्रमों और विज्ञापनों को देखते हुए भी इनकी बुराईयों से बचा जा सकता है। इसका मतलब तो यह हुआ कि जहर खाने के बावजूद उसके प्रभाव से बचा जा सकता है।

जब कोई चित्र या फिल्म या विचार कई बार हमारी नजरों के सामने से गुजरता है तो वह हमारे दिमाग पर छा जाता है। भले ही वह हमारी समझ के परे या बेतुका ही क्यों न हो। ऐसे चित्र हमारे दिमाग में विचरण करते हुए अपने लिए कोई स्थायी ठिकाना ढूँढ निकालते हैं। ऐसा हम बहुत सचेत होकर नहीं करते, बल्कि हमारी गैर-जानकारी में हमारा अवचेतन दिमाग खुद-ब-खुद ऐसा कर लेता है। यही कारण है कि कई बार किसी बात को सचेतन तौर पर गलत मानने के बावजूद हम उसके प्रभाव में आ जाते हैं। किसी विचार को पूरी तरह नकारने के लिए हमें उसके हर रूप के खिलाफ सचेतन संघर्ष करना होता है। न केवल खुद को दुष्प्रभाव से बचाना होता है बल्कि अपनी मित्र-मण्डली और समाज को भी उससे मुक्त करने के लिए बहस और विवाद करना पड़ता है। हम चाहे कितने भी बुद्धिमान क्यों न हो, अगर ऐसा नहीं करते तो खुद को जल्द ही ऐसे विचारों की गिरफ्त में पायेंगे और यही वह बात है जो इन विज्ञापनों के निर्माता जानते हैं। जनसाधारण ही नहीं, समाज के अगुआ तबके भी टीवी की क्षमता और प्रकृति से पूरी तरह परिचित नहीं हैं। नाचते, कूदते, दौड़ते और बोलते दृश्य कितने प्रभावपूर्ण हैं, इसका अंदाजा हम लगा नहीं पाते। टीवी के माध्यम से बड़े ही मनोरंजक तरीके से कार्यक्रमों और विज्ञापनों का प्रसारण करने वाले अपने विचारों को करोड़ों दिमागों में भर देते हैं। हम बस यही सोचते रह जाते हैं कि यह हमारे मन बहलाव का साधन है।

करीब सवा दो सौ साल पहले दुनिया में लोकतांत्रिक क्रान्तियों का दौर शुरू हुआ था। उस समय विचारों पर मीडिया का नियंत्रण नहीं था। मीडिया पर मुट्ठीभर पूँजीपति कुण्डली मारकर नहीं बैठे थे। उस दौर में आन्दोलन का प्रचार-प्रसार पर्चों और पुस्तिकाओं के माध्यम से हाथों-हाथ होता था। लोग उनको गुनते-धुनते थे।

अगर उनमें निहित विचार सच्चाई के अनुरूप नहीं होते थे, या लोगों को कायल बनाने वाले नहीं होते थे तो लोगों पर उनका प्रभाव नहीं पड़ता था, वे लोगों में उद्वेलन नहीं पैदा कर पाते थे। लोग ऐसे आन्दोलन के प्रचार में उत्साह से भाग नहीं लेते थे। ऐसे आन्दोलन बहुत ही शुरुआती दौर में ही असफल हो जाते थे। इसके विपरीत, जिस आन्दोलन की जड़ें जनता में धँसी होती थी, वहाँ से शक्ति संचित करती थी, वह जंगल की आग की तरह पूरे समाज को अपनी चपेट में ले लेता था। उसका दमन किसी भी आतताई शासक के वश की बात नहीं होती थी। ऐसे थे उस दौर के आन्दोलन और क्रान्तियाँ। उनका प्रचार-प्रसार करने और उन्हें खड़ा करने में पर्चे-पुस्तिकाओं का महत्वपूर्ण योगदान होता था। लेकिन आज मीडिया के शीर्ष पर बैठे मुट्ठीभर लोग आपस में साँठ-गाँठ करके अपने फायदे के लिए जड़विहीन फर्जी आन्दोलनों को पैदा करते हैं, उसे प्रचारित-प्रसारित करके उनके पक्ष में रातोंरात हवा बनाते हैं। जब सभी मीडिया संस्थान एक सुर में किसी आन्दोलन की तारीफ करते हुए गला फाड़ते हैं तो लोगों में उसके प्रति अचानक ही दिलचस्पी पैदा हो जाती है और वे उनके प्रति आकर्षित हो जाते हैं। हालाँकि अन्दर की ऊर्जा न होने के कारण पुआल की आग की तरह वे जल्दी ही बुझ जाती हैं। ऐसे भ्रामक और क्षणजीवी आन्दोलनों का सबसे अच्छा शिकार अपनी जड़ों से कटा हुआ मध्यम वर्ग ही होता है। हमारे देश के शासक, मीडियाकर्मी और इनके लगुए-भगुए ऐसे भ्रामक आन्दोलनों में मध्यमवर्गीय शिक्षित नौजवानों को जोतकर खुद सत्ता सुख भोग रहे हैं और अगर कभी ये आन्दोलन उनकी परिधि से बाहर जाने की कोशिश करता है तो वे उसकी नकेल खींच लेते हैं।

जाहिर है कि विज्ञापन का दायरा केवल उपभोक्ता वस्तुओं तक सीमित नहीं है। चुनावों के दौरान राजनीतिक पार्टियों द्वारा अपने पक्ष में हवा बनाने के लिए विज्ञापन पर खुलकर पैसा बहाया जाता है। अपनी उपलब्धियों को बढ़ा-चढ़ाकर बताना, विरोधी का चरित्र हनन करना और झूठे आश्वासनों की झड़ी लगा देना। राजनीतिक पार्टियों के नेता अपने विचारों को सामने रखकर लोगों का मत हासिल नहीं करते। इसके विपरीत वे जातिवाद, क्षेत्रवाद और साम्प्रदायिकता जैसे घातक विचारों का प्रसार करके लोगों में फूट डालते हैं। ताकि किसी खास समुदाय का वोट उनकी पार्टी को मिल जाये। हमारे देश का कानून भी उन्हें खुलकर झूठ बोलने और लोगों को गुमराह करने से नहीं रोक पाता है। इसी कीचड़ में हमारे देश का लोकतंत्र पनाह लेता है। कई बार सरकारी विज्ञापनों में बोला गया झूठ इतना निर्णायक होता है कि वह लोगों के दिमाग में व्यक्ति या

संस्था की झूठी छवि बैठा देता है। सरकार द्वारा देशभर में जनआन्दोलनों को आतंकवादी करार दिया जाना और जनता के हक में लड़ने वाले नेताओं को जेल में डाल देना इसी का प्रमाण है।

पूरी दुनिया में पूँजी की ताकत ने कुत्सा प्रचार का बवंडर खड़ा कर दिया है। अब तो वे आइन्स्टीन और डार्विन के सिद्धांतों तक को गलत बता रहे हैं। वे दुनियाभर के महान दार्शनिकों, सामाजिक कार्यकर्ताओं और क्रान्तिकारियों पर कीचड़ उछाल रहे हैं। पतन के इस दौर में आदर्शों को स्थापित करने के बजाय न केवल वे इतिहास पुरुषों पर कीचड़ उछाल रहे हैं, बल्कि झूठ-फरेब के सहारे लोगों को गुमराह कर रहे हैं। तकनीकी प्रगति के कारण आज सबके लिए ज्ञान के दरवाजे खुल चुके हैं। लेकिन ज्ञान के साधनों पर मुनाफे के भेड़ियों का कब्जा है। वे लोगों की गलत प्रवृत्तियों को भड़का रहे हैं। ताकि उनका मुनाफा का खेल जारी रहे।

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद दुनिया में इंग्लैण्ड-फ्रांस जैसी पुरानी उपनिवेशवादी ताकतों की पराजय हुई। ऐसी नाजुक स्थिति का फायदा उठाते हुए अमरीका ने न केवल आर्थिक रूप से अपना प्रभुत्व बढ़ाना शुरू किया, बल्कि दुनियाभर में टीवी और समाचार पत्रों के माध्यम से लोगों के विचारों पर भी वर्चस्व स्थापित करने लगा। टीवी पर दिखाये जाने वाले विज्ञापनों ने रेडियो को बहुत पीछे छोड़ दिया। इसे उसने एक रणनीति के तौर पर इस्तेमाल किया। यही वजह है कि 1940 में वह विज्ञापन पर मात्र 3 अरब डॉलर खर्च करता था जिसे बढ़ाकर आज वह इस पर हर साल 150 अरब डॉलर खर्च करने लगा। जैसे-जैसे उनकी व्यवस्था संकट ग्रस्त होती जा रही है, इस पर पर्दा डालने और सुधारने की जरूरत भी बढ़ती जा रही है। यही वजह है कि मंदी के इस दौर में अमरीका में टीवी विज्ञापनों के मद में 9 प्रतिशत की तेज वृद्धि हुई है। दुनिया की 80 प्रतिशत जनता की पहुँच टीवी तक है। यह इन्टरनेट, समाचार पत्र और फिल्मों से भी ज्यादा शक्तिशाली माध्यम है। मानव इतिहास में पहली बार ऐसा सम्भव हुआ कि बिना सीधे सम्पर्क किये लोगों की चेतना को वश में किया जा सकता है और अमरीका यही कर रहा है।

“अभिव्यक्ति की आजादी” का झण्डाबरदार अमरीका बिना फौज-फाटे के केवल टीवी के कार्यक्रम के माध्यम से अपने उग्र विज्ञापनों के जरिये हमारी आजादी छीन रहा है। अब वह बोलता है लोग सुनते हैं। अपने मालों के जरिये वह भारत सहित तीसरी दुनिया के तमाम असभ्य लोगों को सभ्य बनाता है और अपना विरोध करने वाले देश इराक, लीबिया और अफगानिस्तान पर बम गिराकर वहाँ के लोगों को आजादी और लोकतंत्र का पाठ पढ़ाता है। उसका

राजनीतिक प्रचार भी एक तरह का विज्ञापन ही है जो उससे कम घातक नहीं है। वह उग्र प्रचार के जरिये आतंकवाद को दुनिया की सबसे बड़ी समस्या के रूप में स्थापित करने की कोशिश करता है। वह कहता है कि “आतंक की लड़ाई के खिलाफ या तो आप हमारे साथ हैं या हमारे दुश्मन आतंकवादियों के साथ।” विज्ञापन की यही खासियत है कि वह हमारे सामने केवल दो विकल्प छोड़ता है- हाँ या ना। आपको अपनी जुदा राय व्यक्त करने की कोई जरूरत नहीं। क्रूर और नग्न सच्चाई विज्ञापन के मायावी प्रभाव के चलते आँख से ओझल हो जाती है। इराक, अफगानिस्तान पर बम गिराने वाला, लाखों बेगुनाह बच्चों का कातिल अमरीका हमें आतंकवादी नहीं दिखता। अपने देश की तरक्की के लिए परमाणु ऊर्जा के ऊपर शोध करने वाला देश ईरान विश्व शान्ति के लिए खतरा नजर आता है, जबकि सिर से पाँव तक हथियारों से लैस, दुनिया में परमाणु बम का सबसे बड़ा जखीरा रखने वाला, कई देशों में अपने सैनिक अड्डे स्थापित करने वाला और कई देशों को अपने हमले से तबाह करने वाला देश अमरीका विश्व शान्ति का अग्रदूत बना बैठा है।

वह लोकतंत्र का स्वयंभू मसीहा है। हमारे समाचार पत्र और न्यूज चैनल उसकी भाषा बोलते हैं। दुनिया के हर देश की शोषणकारी सरकारें अमरीका द्वारा उछाले गये “आतंकवाद” के हव्ये को आँख मूँदकर दुहराती हैं। इसके जरिये असली समस्याओं से अपने देश की जनता का ध्यान हटाने में वे काफी हद तक सफल हुई हैं। इस तरह टीवी विज्ञापन ने न केवल अमरीकी कम्पनियों के मालों को दुनियाभर में लोकप्रिय बनाया, बल्कि राजनीतिक रूप से दुनिया पर उसका प्रभुत्व स्थापित करने में भी मदद की। इसी के माध्यम से वह दुनियाभर की स्थानीय संस्कृति को कुचलकर अपनी साम्राज्यवादी संस्कृति लोगों पर थोप रहा है।

हम जिस मीडिया से प्राप्त सूचनाओं के आधार पर जिन्दगी, समाज और राजनीतिक व्यवस्था की तस्वीर बनाते हैं। वह पूरी तरह पूँजी की गिरफ्त में है। इसके अलावा दुनिया को जानने-समझने का हमारे पास कोई दूसरा साधन नहीं है। क्या हमें जनहित में अपनी समानान्तर मीडिया के निर्माण की जरूरत नहीं, जो जनता की समस्याओं और उनकी आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति करे।

अगर कोई जनता पूर्ण मुक्ति चाहती है तो उसे साम्राज्यवाद को -चाहे वह यूरोपीय, जापानी अथवा अमरीकी किसी भी रूप में हो- अपना मुख्य दुश्मन समझना चाहिए। उसे साम्राज्यवाद की दोनों अवस्थाओं- औपनिवेशिक और नवऔपनिवेशिक को पहचानना चाहिए और इसके सम्पूर्ण निहितार्थों को स्वीकार करना चाहिए। इसका अर्थ यह हुआ कि एक राष्ट्रध्वज और राष्ट्रगान पाने से ही लड़ाई नहीं जीत ली गयी। औपनिवेशिक अथवा नवऔपनिवेशिक कोई भी अवस्था क्यों न हो, साम्राज्यवाद का उद्देश्य जनता द्वारा पैदा की गयी सम्पदा को, उपनिवेशों में रहने वाले किसानों और मजदूरों के श्रम से अर्जित सम्पत्ति को लूटना ही है। साम्राज्यवाद का उद्देश्य आर्थिक नियंत्रण हासिल करना है यानि उस देश की उत्पादक शक्तियों पर नियंत्रण कायम करना है। अपनी राजनीतिक और सांस्कृतिक संस्थाओं की स्थापना के पीछे उसका उद्देश्य इस चोरी और डकैती को आसान बनाना है। इसलिए जब तक देश की अर्थव्यवस्था को मुक्त नहीं कराया जाता यानि जब तक देश की सम्पदा उनको रोटी, कपड़ा और मकान नहीं देती, जिनके श्रम ने इस सम्पदा को पैदा किया है, तब तक जनता खुद को आजाद और मुक्त नहीं समझ सकती।

-न्गुगी वा थ्योंगो
प्रसिद्ध केन्याई उपन्यासकार

केजरीवाल के खुलासे सही पर राजनीति में बचकानापन

-अरुंधती राय

भ्रष्टाचार के ये खुलासे मजेदार घटनाएँ हैं। उनके बारे में एक अच्छी बात यह है कि वे हमें यह समझने की एक अंतर्दृष्टि मुहैया कराते हैं कि सत्ता के तंत्र कैसे जुड़ते और गुंथते हैं। चिंताजनक बात यह है कि हर घोटाला पिछले वाले को धकेल कर रास्ते से हटा देता है और जिंदगी चलती रहती है। यदि इनसे हमें एक अतिरिक्त-प्रचंड चुनाव अभियान ही मिल पाया तो यह उस सीमा को ही बढ़ा सकता है जो हमारे शासकों की समझ से हम बर्दाश्त कर सकते हैं, या जितना बर्दाश्त करने के लिए हमें बहलाया जा सकता है। कुछ लाख करोड़ से कम के घोटाले हमारी तबज्जो ही नहीं पायेंगे। चुनावी मौसम में राजनीतिक दलों का एक-दूसरे पर भ्रष्टाचार का आरोप या कम्पनियों से संदिग्ध सौदे करने का आरोप नया नहीं है। एनरान के खिलाफ भाजपा और शिवसेना की मुहिम याद है? आडवाणी ने इसे 'उदारीकरण के माध्यम से लूट' कहा था। महाराष्ट्र में वह चुनाव वे जीत गये थे, एनरान और कांग्रेस सरकार के बीच हुआ समझौता रद्द कर दिया था और फिर एक उससे भी खराब समझौते पर दस्तखत कर दिये थे।

यह तथ्य भी चिंताजनक है कि इनमें से कुछ 'खुलासे', अपने विरोधियों को पछाड़ने के मकसद से एक-दूसरे का राजफाश कर रहे नेताओं और कारोबारी घरानों द्वारा किये गये रणनीतिक लीक हैं। जिनके खुलासे किये गये (सलमान खुर्शीद, राबर्ट वाड्रा, गडकरी) उन्हें उनकी पार्टियों ने और भी मजबूती से गले लगा लिया है। नेता इस सच्चाई से अवगत हैं कि भ्रष्टाचार के आरोपी या दोषी होने से हमेशा उनकी लोकप्रियता में फर्क नहीं पड़ता। अपने खिलाफ लगाये गये आरोपों के बावजूद मायावती, जयललिता, जगमोहन रेड्डी अत्यन्त लोकप्रिय नेता बने हुए हैं। जहाँ आम लोग भ्रष्टाचार से व्यथित हैं, वहीं यह भी लगता है कि मतदान का समय आने पर उनका गणित अधिक चतुर, अधिक जटिल हो जाता है। जरूरी नहीं कि वे अच्छे लोगों को वोट दें।

अन्ना हजारे, अरविन्द केजरीवाल और प्रशांत भूषण ने अहम भूमिका निभाकर मीडिया के लिये मुद्दे को बिसराना कठिन बना दिया है। लेकिन खुलासों की अचानक बाढ़ का सम्बन्ध नेताओं के विभिन्न गठबन्धनों, बड़े निगमों और उनके स्वामित्व वाले मीडिया घरानों के बीच बढ़ती प्रतिस्पर्धा से भी है। मसलन मुझे इन अटकलों में कुछ सच्चाई नजर आती है कि गडकरी के खुलासे का सम्बन्ध नरेंद्र मोदी द्वारा खुद को भाजपा के प्रधानमंत्री पद के उम्मीदवार

के रूप में प्रस्तुत करने और विरोधी गुटों को रास्ते से हटाने से है। यह भ्रष्टाचार और बैलेंस शीटों का जमाना है खून पुराना पड़ चुका है। कितना अजीब है जब आप टिप्पणीकारों को अक्सर यह कहते हुए पाते हैं कि मुस्लिमों के खिलाफ संघ परिवार के 2002 के गुजरात जनसंहार से हटकर अब आगे देखने का वक्त आ गया है। दिल्ली में कांग्रेस पार्टी की अगुआई वाले 84 के सिखों के नरसंहार को भी भुला दिया गया है। यदि वे आर्थिक रूप से भ्रष्ट न हों तो क्या हत्यारे और फासिस्ट ठीक हैं? केजरीवाल और प्रशांत भूषण की अगुआई में चलाया जा रहा नया भ्रष्टाचार विरोधी आंदोलन जो कर रहा है, वह जरूरी काम है जो कि वास्तव में मीडिया और जाँच एजेंसियों द्वारा किया जाना चाहिए था और जिसमें आम जनता बाहर से व्यवस्था पर दबाव बना रही होती। मुझे भरोसा नहीं है कि चुनाव लड़ने जा रही एक नयी राजनीतिक पार्टी कोई सही तरीका है। इस बात का एक कारण है कि क्यों बड़े राजनीतिक दल सबको खुशी-खुशी चुनाव लड़ने का न्योता देते हैं। वे जानते हैं कि इस इलाके में उनकी चलती है। वे नये खिलाड़ियों को अपने सर्कस के जोकरों में बदल देना चाहते हैं।

इस रास्ते पर बहुत से लोग पहले भी चल चुके हैं। उदाहरण के लिए यदि केजरीवाल की पार्टी कुछ ही सीटें जीतती हैं, या एक भी सीट नहीं जीतती, तो इसका क्या मतलब होगा? कि भारतीय जनता का बहुलांश भ्रष्टाचार समर्थक है?

भ्रष्टाचार शक्तिशाली और शक्तिहीन लोगों के बीच बढ़ती खाई का एक लक्षण है। इसे सम्बोधित किया जाना जरूरी है। नैतिक पुलिसिंग या वास्तविक पुलिसिंग कोई समाधान नहीं हो सकती। उससे क्या हासिल हो सकता है? एक अन्यायपूर्ण व्यवस्था को अधिक साफ-सुथरा और अधिक कुशल बनाने का सामान? नुक्ता यह है कि हम भ्रष्टाचार को कैसे परिभाषित करते हैं? यदि कोई औद्योगिक घराना किसी कोयला क्षेत्र का ठेका पाने के लिए एक हजार करोड़ रुपये रिश्वत देता है तो यह भ्रष्टाचार है। यदि कोई मतदाता किसी नेता विशेष को अपना वोट देने के लिए एक हजार रुपये लेता है तो यह भी भ्रष्टाचार है। यदि समोसे का एक खोमचे वाला फुटपाथ पर थोड़ी सी जगह पाने के लिए सिपाही को सौ रुपये की घूस देता है तो यह भी भ्रष्टाचार है। मगर ये सभी चीजें क्या एक ही हैं? मैं यह नहीं कह रही कि भ्रष्टाचार पर

शेष पृष्ठ 68 पर...

कालीन बुनकरों ने लेनिन को सम्मानित किया

-बर्तोल्त ब्रेख्त

वे बार-बार दरियादिली से सम्मानित किये गये
साथी लेनिन।
प्रतिमाएँ आवक्ष और आदमकद
उनके नाम पर रखे गये शहरों के नाम, बच्चों के भी।
अनगिनत भाषाओं में दिये गये भाषण
जुलूस निकले, प्रदर्शन हुये
शंघाई से शिकागो तक, लेनिन के सम्मान में।
मगर इस तरह आदर दिया उन्हें
दक्षिणी तुर्किस्तान के एक छोटे से गाँव
कूयान-बुलाक के कालीन बुनकरों ने-
एक शाम बीस कालीन बुनकर इकट्ठा हुए
अपने हथकरघे के पास बुखार से कंपकंपाते।
उत्पात मचाता बुखार- रेलवे स्टेशन पर
भिनभिनाते मच्छरों की भरमार- एक घना बादल
उठता ऊँटों वाले पुराने कब्रिस्तान के पीछे की दलदल से।
मगर रेलगाड़ी जो हफ्ते में दो मर्तबा
लाती है पानी और धुआँ, लाती है
यह खबर भी एक दिन
कि लेनिन को सम्मानित करने का दिन आ रहा है जल्दी
और इस तरह तय किया कूयान-बुलाक के लोगों ने
कालीन बुनकर, गरीब लोगों ने
कि उनके गाँव में भी साथी लेनिन की याद में
लगेगी सिलखड़ी से बनी लेनिन की आवक्ष प्रतिमा।
लेकिन पैसा जुटाना जरूरी था मूर्ति-स्थापना के लिए
तो वे सभी आकर खड़े हुए
बुखार में सिहरते और चंदे में दे दिये
गाढ़ी कमाई के कोपेक काँपते हाथों से।
लाल सेना का सिपाही स्तेपा जमाल, जो
बड़ी सावधानी से गिन रहा था और देख रहा था गौर से
मुस्तेदी लेनिन को सम्मानित करने की, खुशी से झूम उठा वह।
लेकिन उसने देखा उन काँपते हुए हाथों को भी।
और अचानक उसने एक सुझाव दिया
कि मूर्ति के लिये जमा पैसे से खरीदा जाय मिट्टी का तेल
डाला जाय ऊँटों के कब्रिस्तान के पीछे वाली दलदल पर

जहाँ से आते हैं मच्छर, जो
फैलाते हैं बीमारी
और इस तरह कूयान-बुलाक में बीमारी का मुकाबला करने
और वास्तव में सम्मानित करने के लिये,
दिवंगत, लेकिन अविस्मरणीय,
साथी लेनिन को।
सबने इसे मान लिया।
लेनिन को सम्मानित करने के दिन
लाये वे अपनी पुरानी-पिचकी वाल्टियाँ, मिट्टी तेल से भरी
और एक के पीछे एक चल पड़े उसे दलदल पर छिड़कने।
इस तरह फायदा हुआ उन्हें, लेनिन को श्रद्धांजलि देने से और
इस तरीके से उन्हें श्रद्धांजलि दी, जो लाभदायक रहा उनके लिए
और
इसलिए अच्छी तरह जाना भी उन्हें।

2

हमने सुना है यह वाकया
कि कैसे कूयान-बुलाक के गाँववालों ने
सम्मानित किया लेनिन को।
उस शाम जैसे ही
मिट्टी तेल खरीदा गया और छिड़का गया दलदल पर
एक आदमी खड़ा हुआ सभा में, और उसने माँग की
कि रेलवे स्टेशन पर एक स्मारक पत्थर लगाया जाय जिसमें
ब्योरा हो इस घटना का, कि कैसे पलटी योजना और बदल गयी
लेनिन की आवक्ष मूर्ति बीमारी मिटाने वाले मिट्टी तेल के पीपों में।
और उन लोगों ने यह भी किया
और खड़ा किया स्मारक पत्थर।

(कूयान-बुलाक उज्बेकिस्तान के फरगाना में एक रेलवे
स्टेशन है। वहाँ एक स्मारक पत्थर है, जिस पर लिखा है- “इस
जगह पर लेनिन का एक स्मारक होना चाहिए था, लेकिन उस स्मारक
के बदले मिट्टी तेल खरीदा गया और दलदल पर उसका छिड़काव
किया गया। इस तरह कूयान-बुलाक ने, लेनिन की याद में और
उनके ही नाम पर, मलेरिया का काम तमाम कर दिया।”)

नफरत के सौदागर की मौत

-पारिजात

मैंने उम्र भर उसके खिलाफ
सोचा और लिखा है
अगर उसके शोक में सारा देश शामिल है
तो इस देश से मेरा नाम काट दें।

-पाश

बाल ठाकरे की मौत, उनकी जिंदगी की तरह ही एक हादसे के रूप में गुजरी- विवादास्पद और विद्रूपतापूर्ण। उनके शव पर महाराष्ट्र के राज्यपाल और मुख्यमंत्री ने पुष्पचक्र अर्पित किया। मुम्बई पुलिस के एक दस्ते ने उन्हें बंदूक की सलामी दी और तिरंगे झण्डे में लपेट कर पूरे राजकीय सम्मान के साथ मुंबई के शिवाजी पार्क में उनका अंतिम संस्कार किया गया। यह सम्मान ऊँचे पद वाले किसी व्यक्ति को विरले ही मिलता है। विडम्बना ही है कि उस दौरान योजना आयोग के उपाध्यक्ष और कई दूसरे महत्त्वपूर्ण पदों पर रह चुके काँग्रेसी नेता के सी पंत की मौत को लेकर मीडिया में कोई उत्साह दिखाई नहीं दिया उनकी मौत के बारे में बहुत कम ही लोगों को जानकारी मिल पायी। दूसरी ओर बाल ठाकरे को अंतिम विदाई देने वालों में पक्ष-विपक्ष के नेताओं से लेकर अभिनेता और उद्योगपति तक वहाँ धक्का-मुक्की कर रहे थे और मीडिया “अहर्निश सेवामहे” हो गयी थी।

उनकी मौत का सबसे तीव्र झटका शायद मीडिया ने ही महसूस किया। इसी तरंग के प्रवाह में समाचार चैनलों ने अपना विवेक और संतुलन खोकर उनसे जुड़ी हर छोटी-बड़ी घटना का बखान शुरू कर दिया। अखबारों ने उनकी स्मृति में अपने कई पन्ने शहीद कर दिये। अखबारों और चैनलों में उनको उपाधियाँ देने की होड़ सी लग गयी। एक प्रतिष्ठित हिन्दी दैनिक ने लिखा कि “हिन्दुत्ववादी नेता और *मराठी स्वाभिमान के झंडाबरदार* रविवार को पंचतत्त्व में विलीन हो गये। लाखों लोगों ने उन्हें अश्रुपूर्ण नेत्रों से भावभीनि विदाई दी।” पल-पल देश भर की जानकारी पहुँचाने का दावा करने वालों के लिये जैसे सारा देश सिमटकर बाल ठाकरे की मौत पर अटक गया।

कभी न रुकने वाली मुम्बई में मुर्दानगी छा गयी। बड़े-बड़े मॉलों से लेकर छोटी-छोटी दुकानों तक का बंद होना और

शिवाजी पार्क में इकट्ठी अपार भीड़ को उनके प्रति सम्मान के रूप में प्रचारित-प्रसारित किया गया।

राष्ट्रीय और अन्तरराष्ट्रीय ख्याति प्राप्त महानविभुतियों ने चारण की तरह उनकी मौत पर बयान जारी किये। भारत कोकिला लता मंगेशकर ने कहा कि “महाराष्ट्र अनाथ हो गया है।” बालीवुड के शहंशाह बिग बी ने उन पर अपने पिता का साहित्य कुर्बान करते हुए कहा कि “हमें छोड़कर चली गयी लौ दिन की चैन संगिनी माया।” लेखिका शोभा डे ने उन्हें “लौहपुरुष” की उपाधि दी और बिहारीबाबू शत्रुघन सिन्हा ने उन्हें “सही मायने में भारतीय और हिन्दुत्व का रक्षक” घोषित किया। राष्ट्रपति प्रणव मुखर्जी ने इस मौत को “अपूरणीय क्षति” कहा, वहीं टाटाओं, बजाजों अम्बानियों और धूर्तों ने भारत को राह दिखाने वाला एक महान नेता बताया। यश-कीर्तन के इस माहौल में कुछ ने खुलकर उनके अहसान गिनवा दिये तो कुछ ने मन ही मन, उदाहरण के लिए अमिताभ बच्चन ने अपनी बीमारी के दौरान मिली सहायता और संजय दत्त ने हथियार बरामदगी के केस में उनकी सिफारिश को याद करते हुए आँखें गीली कर लीं।

शिवसेना के लिए गुण्डागर्दी के दम पर बिना बात मुम्बई बन्द कराना कोई मुश्किल काम नहीं और जब बात उसके सुप्रीमों की मौत की हो तो ऐसे में दहशत और खौफ से ठहर गयी मुम्बई की हालत को समझाया जा सकता है। लेकिन ठाकरे और उनकी सेना के प्रति इस घृणित भयग्रस्तता को उनके प्रति सम्मान की ऊँची भावना के रूप में प्रचारित किया गया। उनकी अंतिम विदाई के इस पूर्वनियोजित कार्यक्रम को शान्ति से निपटाने में मुम्बई पुलिस ने एड़ी-चोटी का जोर लगा दिया। पूरी मुम्बई इसलिए उनके सर्मथन में थी क्योंकि असहमति की कोई गुंजाइश नहीं थी। सोशल मीडिया साइट फेसबुक पर मुम्बई बंद का विरोध करते हुए एक बहुत ही विनम्र और छोटी सी टिप्पणी लिखने और उसे ‘लाइक’ करने के अपराध में 21 वर्षीय शाहीन और 20 वर्षीय रेनू श्रीवास्तव को मुम्बई पुलिस ने विभिन्न वर्गों के बीच दुश्मनी और घृणा पैदा करने या फैलाने के विरुद्ध भारतीय दण्ड संहिता की धारा 295(अ) (जिसे बाद

में बदलकर 505(2) कर दिया गया) तथा सूचना तकनीक कानून (आईटी एक्ट) की धारा 66(अ) के तहत देर रात गिरफ्तार कर लिया। अगले दिन 15,000 रुपये के निजी मुचलके पर उनकी जमानत हुई। इस घटना ने शिवसेना और मुम्बई पुलिस के पुराने गँठजोड़ को उजागर किया और अन्ततः सर्वोच्च न्यायालय के पूर्व न्यायधीश और प्रेस काउन्सिल ऑफ इंडिया के अध्यक्ष मार्कण्डेय काटजू सहित देशभर में इस तानाशाही रवैये के खिलाफ तीखे विरोध के बाद उन दोनों लड़कियों पर से मुकदमा उठाया गया और पुलिस अधिकारियों के खिलाफ कार्रवाई हुई।

शिव सैनिकों ने शाहीन के चाचा के निजी अस्पताल पर हमला किया और तोड़फोड़ की। इस घटना से यह अन्दाजा लगाया जा सकता है कि ठाकरे और शिवसेना के प्रति सम्मान का भाव किन हथकण्डों से पैदा किया गया था। पुरानी कहावत है कि किसी की मौत पर केवल अच्छी बातें ही बोलनी चाहिए, लेकिन एक ऐसे आदमी की मौत पर उसकी प्रशंसा के गीत गाने वालों को क्या नाम दिया जाय, जिसने जिंदगी भर हिंसा की राजनीति की हो, लोकतंत्र की धज्जियाँ उड़ायी हो, साम्प्रदायिकता, जातिवाद, व्यक्तिवाद, भाषावाद, क्षेत्रवाद का जहर फैलाया हो और जिसका व्यक्तित्व मासूमों के खून से दमका-चमका हो। सच तो यह है कि इस घटना ने हमारे देश के शीर्षस्थ कलाकारों, नेताओं, थैलीशाहों और ख्यात-विख्यात लोगों की कलाई खोल दी।

ठाकरे ने अपनी पार्टी की शुरुआत 1964 में उसी शिवाजी पार्क से की थी, जहाँ उनका अवसान पर्व आयोजित हुआ। तभी से वह अपने 'भूमिपुत्र' सिद्धांत को जमीन पर उतारते रहे, जिसका मतलब था कि महाराष्ट्र केवल मराठियों का है। 1960-70 में उन्होंने और उनके गुण्डों की फौज ने महाराष्ट्र से दक्षिण भारतीयों को खदेड़ना शुरू किया। उनके होटलों, रेस्तराओं में तोड़फोड़ की और उनके घरों पर हमले किये। इसके बाद यह सिलसिला मजदूर यूनियन के नेताओं, कम्युनिस्टों, मुस्लिमों से होता हुआ यूपी और बिहार के लोगों तक पहुँचा। संविधान की धारा 19(1) (ड़), जो किसी भी

भारतीय को भारतीय क्षेत्र में कहीं भी रहने व व्यवसाय करने की आजादी देती है, उसकी धज्जी उड़ाते हुए, संविधान और लोकतंत्र को जूते की नोक पर रखते हुए ठाकरे और शिवसेना ने अपना खूनी खेल जारी रखा। 1984 के दंगों में इस गिरोह ने अल्पसंख्यकों के खिलाफ पूरी तैयारी के साथ हमला किया। मुसलमानों के प्रति हिंसा में ठाकरे को पक्ष-विपक्ष और पुलिस प्रशासन का पूरा सहयोग प्राप्त था। चौपाटी के कुख्यात भड़काऊ भाषण पर जो 258 लोगों की मौत का कारण बना था, बिना कोई कार्रवाई किये तात्कालिक काँग्रेसी मुख्यमंत्री बसंतदादा पाटिल ने उसे यह कहते हुए खारिज कर दिया कि ठाकरे ने जानबूझ कर ऐसा भाषण नहीं दिया था। साथ ही उन्होंने उस दंगे की जाँच कराने की माँग को भी ठुकरा दिया।

इस सिलसिले में शिवसेना के मधुकर सरपोतदार, अण्डरवर्ड डॉन हाजी मस्तान और करीम लाला को राष्ट्रीय सुरक्षा कानून के तहत हिरासत में लिया गया था। लेकिन दंगों के कुछ ही समय बाद शिवसेना द्वारा महाराष्ट्र विधान परिषद के सभापति पद पर काँग्रेस उम्मीदवार को समर्थन देने के

“फासीवाद का सही नाम कॉरपोरेटवाद है क्योंकि, यह राजसत्ता और बहुराष्ट्रीय निगमों की सत्ता का विलय है।”

“हमारे अपने दाँतों के बीच खंजर, हाथों में बम और दिलों में बेइन्तहाँ नफरत होनी चाहिए।”

-मुसोलिनी

एवज में इन तीनों को ही छोड़ दिया गया।

शिवसेना-काँग्रेस और पुलिस प्रशासन के कुख्यात गठजोड़ का इससे भी ज्यादा विकराल रूप 1992-93 के दंगों में देखने को मिला। शिवसैनिकों ने न केवल लूटपाट की, सम्पत्ति को नुकसान पहुँचाया और हत्याएँ की, बल्कि जनवरी 1993 में शिव सैनिकों पर मुस्लिम महिलाओं को नंगा करने, उनका अंगभंग करने और जिंदा जलाने, निहत्ते पुरुषों पर पत्थरों से हमला कर जान से मारने और उनके शवों को “जय श्रीराम” के नारे लगाते हुए जलाने के भी आरोप लगे थे। जस्टिस वीएन कृष्णा आयोग ने ठाकरे की ओर इशारा करते हुए कहा था कि “किसी पूर्व जनरल की तरह उसने अपने विश्वसनीय शिव सैनिकों को मुस्लिमों के ऊपर संगठित हमले कर बदला लेने का आदेश दिया।” चश्मदीदों ने आयोग को बताया था कि उन्होंने विकलांग लोगों को भी नहीं छोड़ा। लेकिन इन सब के बावजूद कोई उनका बाल बाँका नहीं कर पाया क्योंकि उनके बचाव में देश के सबसे काबिल वकील मौजूद थे।

पक्ष-विपक्ष और प्रशासन द्वारा मिलने वाले समर्थन के कारण बाल ठाकरे कुछ भी करने को आजाद थे, पुलिस प्रशासन के साथ शिवसेना के इस रिश्ते के बारे में शहर के पुलिस कमिश्नर जूलियो रोबेरियो ने अपने एक सर्कुलर में पूछा था- “मैं जानना चाहता हूँ कि आखिर शहर को चला कौन रहा है- प्रशासन या फिर शिवसैनिक? जब साफ तौर पर यह आदेश दिया गया था कि उन शिव सैनिकों के खिलाफ फोर्स का प्रयोग किया जाये, जो दुकानें बन्द करने का आदेश देते हैं, तो पुलिस उसे नकारती रही,” (इंडियन एक्सप्रेस 30 जून 1984) पुलिस का कहना था कि “हम वर्दीधारी शिवसैनिक हैं।”

ठाकरे ने न्यायालय, कानून, लोकतंत्र और संविधान की हमेशा खुलेआम अवहेलना की। उनके ज्यादातर सहयोगियों और विधायकों पर आपराधिक मामले दर्ज हैं, जिनमें न केवल दंगे भड़काने, सरकारी कर्मचारियों को धमकाने परेशान करने के मुकदमों हैं, बल्कि उनके ऊपर अपहरण व हत्या तक के मामले हैं।

अपने गुण्डा गिरोह की विधिवत् स्थापना से लेकर आज तक ठाकरे का यही इतिहास रहा है। दक्षिण भारतीयों को जबरन मुम्बई से बाहर खदेड़ने के बाद कम्युनिस्ट उनके निशाने पर रहे। 1970 में उनके गिरोह ने परेल के भाकपा विधायक कृष्णा देसाई की हत्या की और उप-चुनावों में वे जीत गये। 1984 के दंगों ने उसे बृहमुम्बई म्यूनिसिपल कॉरपोरेशन पर काबिज होने में मदद दी और 1992-93 के दंगों ने 1995 में पूरे महाराष्ट्र में सत्ता के गलियारे तक पहुँचाने में सहायता की।

ठाकरे और उनके गुण्डा गिरोह के साम्प्रदायिक और जातिवादी उन्माद ने दलितों पर भी कहर बरपाया। 1972 में अम्बेडकरवादी दलित पेंथर पार्टी की स्थापना के बाद से लगातार दोनों की झड़पें होती रहीं। 1987 में सेना ने राज्य सरकार द्वारा अम्बेडकर के लेखों व भाषणों के संकलन में उनके लेख “रिडल्स ऑफ हिन्दूइज्म” को शामिल किये जाने के खिलाफ अभियान चलाया। दलितों के प्रति अपनी कुत्सित मानसिकता का इजहार करते हुए शिवसेना के एक नेता छगन भुजबल ने फ्लोरा फाउण्टेन स्मारक को गंगाजल से धोया क्योंकि कुछ दिन पहले उस जगह दलितों की रैली हुई थी। मराठवाड़ा में शिवसैनिकों ने दलितों के घरों पर हमले किये और अम्बेडकर की मूर्तियाँ तोड़ीं। सैनिकों पर दलित उत्पीड़न कानून के तहत कुछ हल्के मुकदमों तो दर्ज किये गये, लेकिन तात्कालिक मुख्यमंत्री शरद पवार ने वे मुकदमों वापस ले लिये और जब अगले साल शिवसेना सत्ता में आयी, तो बाकी बचे मामले भी रद्द कर दिये गये।

ठाकरे ने 1967 में नवकाल अखबार में कहा था कि “आज भारत को हिटलर की ही जरूरत है।” हिटलर की फासीवादी सोच को अपनी विचारधारा बनाकर ठाकरे ने महाराष्ट्र में हिंसा का ताण्डव किया और फासीवाद के भारतीय संस्करण की शुरुआत की। निश्चय ही पूँजीवाद को संकट से उबारने में भी फासीवाद की भूमिका रही है। मुसोलिनी ने साफ-साफ कहा था कि “फासीवाद का सही नाम कॉरपोरेटवाद है क्योंकि, यह राजसत्ता और बहुराष्ट्रीय निगमों की सत्ता का विलय है।” और यह कि “हमारे अपने दाँतों के बीच खंजर, हाथों में बम और दिलों में बेइन्तहाँ नफरत होनी चाहिए।”

सवाल यह है कि हिटलर और मुसोलिनी के इस भारतीय संस्करण को अपने कुत्सित विचार फैलाने में कैसे सफलताएँ मिलीं, क्यों संसद, संविधान और लोकतंत्र की दुहाई देने वाला पक्ष-विपक्ष, धर्मनिरपेक्षता और साम्प्रदायिक सौहार्द की कसमें खाने वाली पार्टियाँ और महान विभूतियाँ ठाकरे के साथ कतारबद्ध होती गयीं?

मुम्बई देश की औद्योगिक राजधानी माना जाता है। 60 के दशक में यह देश का सबसे बड़ा औद्योगिक क्षेत्र था। देश के तमाम हिस्से से उद्योगपति और निवेशक वहाँ अपनी फैक्ट्रीयाँ खोलने के लिये लालायित थे। लेकिन पूँजीवाद चूँकि सबको रोजगार, आर्थिक समानता और सम्मान नहीं दे सकता, वैसा ही हाल मुम्बई में भी दिखाई दे रहा था। आम मराठी इस अपार समृद्धि को देख तो सकते थे लेकिन इसमें उनकी कोई हिस्सेदारी नहीं थी। इसने वहाँ के युवा वर्ग के भीतर गहरी निराशा को जन्म दिया। इस निराशा-हताशा का फायदा उठाते हुए ठाकरे ने अपना फासीवादी अभियान शुरू किया। ठाकरे के भड़काऊ भाषणों और लेखों ने उन लोगों को आकर्षित किया। यहीं ठाकरे ने अपने कुत्सित “भूमिपूत्र” सिद्धांत की बुनियाद रखी, जिसका निचोड़ यही था कि उन लोगों से नफरत करो जो तुमसे तुम्हारा हक छीनते हैं और उनसे किसी भी कीमत पर अपना हक छीन लो। हक कौन छीनता है इस निशाने को गलत दिशा में मोड़ने में वे बुरी तरह कामयाब रहे। ठाकरे का निशाना सीधे-सीधे दूसरे राज्यों से आये आम लोगों की तरफ था, जो अपनी मेहनत के भरोसे रोजी-रोटी कमाने अपनी-अपनी जमीन से उजड़ कर वहाँ आये थे। निराश-हताश और तंगहाल मराठी जनता के वे सच्चे दोस्त थे, लेकिन फासीवादी, अलगाववादी, फूटपरस्त कुत्सा प्रचार का जादू उनके सिर चढ़कर बोलने लगा और अपने असली दुश्मन की जगह स्थानीय लोगों ने बाहर

से आये लोगों पर अपना गुस्सा उतारना शुरू किया।

हिटलरी सोच का असर आज काँग्रेस और अन्य पार्टियों के व्यवहार में भी दिखने लगा है। उनकी धर्मनिरपेक्षता की कलाई खुलती जा रही है। इन्हीं पार्टियों के बारे में यह बात अक्सर सुनने को मिलती है कि काँग्रेस का भाजपाईकरण या भाजपा का काँग्रेसीकरण हो रहा है। आज नीतिगत मामले में इन पार्टियों के बीच कोई फर्क नहीं रहा। विपक्ष नाम की कोई चीज नहीं बची है। नीतियों को लागू करने को लेकर उन्नीस-बीस का फर्क तो हो सकता है, लेकिन यह दिखावटी विरोध केवल सत्ता हथियाने तक सीमित है। इसका सबसे स्पष्ट उदाहरण महाराष्ट्र में ही सामने आया, जहाँ एनरान के साथ तात्कालीन सत्ताधारी काँग्रेस के समझौतों का भाजपा-शिवसेना ने जमकर विरोध किया था। इस विरोध की नाव खेते हुए अगले चुनाव में यह गठबंधन सत्ता तक पहुँच गया, लेकिन जीत हासिल करते ही भाजपा-शिवसेना ने देशभक्ति का लबादा फेंक दिया और उस कुख्यात अमरीकी कम्पनी के साथ और भी खराब शर्तों के साथ समझौता किया।

कुल मिलाकर भारतीय शासक वर्ग और उसकी राजनीतिक पार्टियाँ साम्राज्यवाद के सामने नतमस्तक हैं। साम्राज्यवादी पूँजी के प्रवेश के लिए नियम-कानून, लोकतंत्र और संविधान को ताक पर रखते हुए उसे हर तरह से लूट की छूट दी जा रही है। जब साम्राज्यवादी पूँजी आती है तो वह अपने साथ पतनशील साम्राज्यवादी संस्कृति और मूल्यों को साथ लेकर आती है। ठाकरे और उनकी फासीवादी विचारधारा का फैलना पूँजीवाद के संकटग्रस्त होने का संकेत और नतीजा है। अपने शुरूआती दौर में पूँजीवाद ने जो सकारात्मकता और सृजनशीलता प्रस्तुत की थी उससे उलट आज संकट की घड़ी में साम्राज्यवादी पूँजीवाद हर तरह के सड़े-गले विचारों का पालन-पोषण कर रहा है। साथ ही भारतीय पूँजीपति भी अपने संकट को टालने और मेहनतकश तबकों की संगठित ताकत से खुद को बचाने के लिए ऐसी बर्बरता की बढ़ावा देते हैं। शिवसेना के पीछे अम्बानियों, बजाजों और टाटाओं का हाथ है, यह बात किसी से छिपी नहीं है। देशी-विदेशी पूँजी के मालिक अपनी जान बचाने के लिए हिटलर और मुसोलिनी की अनुकृतियों को राजनीति के मैदान में उतार रहे हैं। दूसरी तरफ प्रगतिशील और जनपक्षधर ताकतें तथा मेहनतकशों के संगठन आज बहुत ही कमजोर स्थिति में हैं। इटली और जर्मनी की घटनाओं के बारे में किसी ने सही कहा था कि फासीवाद मजदूर वर्ग को क्रान्ति न करने की सजा है। आज भी फासीवाद का मुकाबला जनता की जुझारू एकता के बल पर ही सम्भव है। आज समता मूलक समाज की चाह रखने

वाले अमन पसंद लोगों के लिए जरूरी है कि निराशा और पस्ती के गर्दो-गुबार को झाड़कर मजबूत इरादों के साथ उठ खड़े हों। तानाशाहों और फासीवाद के कुकृत्यों से दुनिया वाकिफ है, लेकिन इतिहास गवाह है कि आम अवाम ने फासीवाद को अपनी छाती पर झेला जरूर था, आत्महत्या हिटलर ने ही की थी। □

पृष्ठ 63 का शेष...

नजर रखने के लिए कोई शिकायत निवारण प्रणाली ही नहीं होनी चाहिए, बिल्कुल होनी चाहिए। लेकिन उससे असली समस्या का समाधान नहीं होगा क्योंकि बड़े खिलाड़ी अपनी करतूतों छिपाने में और बेहतर ही हो जाएँगे।

क्या भ्रष्टाचार के संकीर्ण और भंगुर लेंस से हम जाति और वर्ग की राजनीति को समझ और सम्बोधित कर सकते हैं? क्या उससे हम नस्ल, लिंग, धार्मिक उग्रराष्ट्रीयता, अपने संपूर्ण राजनीतिक इतिहास, पर्यावरण के विनाश की मौजूदा प्रक्रिया और भारत के इंजन को चलाने वाली या नहीं चलाने वाली अन्य अनगिनत चीजों को समझ सकते हैं?

बदलाव आएगा। उसे आना ही है। लेकिन इस बात में मुझे संदेह है कि वह किसी ऐसी राजनीतिक पार्टी के लाये आएगा, जो चुनाव जीतकर व्यवस्था को बदलने की उम्मीद कर रही हो। क्योंकि जिन लोगों ने चुनावों के माध्यम से व्यवस्था को बदलने की कोशिश की थी, उनका अंजाम यह हुआ है कि चुनावों ने खुद उन्हें ही बदल दिया है - देखिये कि कम्युनिस्ट पार्टियों के साथ क्या हुआ। मुझे लगता है कि ग्रामीण इलाकों में हो रहे विद्रोह शहरों की ओर बढ़ेंगे। जरूरी नहीं कि किसी एक बैनर के तहत या किसी व्यवस्थित या क्रांतिकारी तरीके से ही। यह सुंदर तो नहीं होगा, मगर यह अपरिहार्य है।

ये निगम और नेता यदि निष्ठापूर्वक ईमानदार हो जाएँ तो भी किसी देश के लिए ऐसी स्थिति में होना बेतुका ही होगा। जब तक बड़े निगमों पर अंकुश नहीं लगाया जाता और कानून द्वारा उन्हें सीमित नहीं कर दिया जाता, जब तक उनके हाथों से ऐसी बेहिसाब ताकत (जिसमें राजनीति और नीतिनिर्धारण, न्याय, चुनाव और खबरों को खरीदने की ताकत शामिल है) का नियंत्रण वापस नहीं ले लिया जाता, जब तक कारोबार के क्रॉस-ओनरशिप का नियमन नहीं होता, जब तक मीडिया को बड़े व्यवसायों के पूर्ण नियंत्रण से मुक्त नहीं करा लिया जाता, हमारे जहाज का डूबना तय है। कितना भी शोर, कितना भी भ्रष्टाचार-विरोधी आंदोलन, कितना भी चुनाव इसे रोक नहीं सकता।

(अरुंधती की यह टिप्पणी अंग्रेजी आउटलुक में छपी है। उसका हिंदी अनुवाद मनोज पटेल ने किया है और आभार सहित उसे अपने ब्लॉग पढ़ते-पढ़ते पर प्रकाशित किया है।) □

नफरत का नया सौदागर

-शमशाद इलाही शम्स

हबीबे मिल्लत 42 साला विधायक अकबरुद्दीन औवेसी पुत्र मरहूम सांसद सालारे मिल्लत सलाहुद्दीन औवेसी इन दिनों अपनी जज्वाती ठाकरे अंदाज वाली तकरीर के कारण भारतीय मीडिया, सोशल मीडिया की सुर्खियों में हैं। 24 दिसंबर को आदिलाबाद में कोई 10-15 हजार मुसलमानों की भीड़ को संबोधित करने के बाद मुसलमानों के प्यारे (हबीबे मिल्लत) ने इलाज कराने के नाम पर लंदन का जहाज पकड़ लिया। नेता, मीडिया, सरकार, भाजपा, अदालत सब हरकत में आ चुके हैं। अकबरुद्दीन की ही मानें तो भारत में 25 करोड़ मुसलमान हैं इनकी सियासी जमात इतेहादे मुसलमीन (एम आई एम) के कुल जमा 7 विधायक हैं और इनके बड़े भाई असदुद्दीन अपने पिता सलाहुद्दीन की पुश्तैनी संसदीय सीट से भारतीय लोकसभा के निर्वाचित सांसद भी हैं। हैदराबाद से सलाहुद्दीन औवेसी कुल जमा छह बार सांसद रहे जिनका स्वर्गवास 2008 में 77 साल की उम्र में हुआ था। अब आप इन सालारे मिल्लत, हबीबे मिल्लत की सियासी औकात का अंदाजा खुद ही लगा सकते हैं।

मुसलमानों के इस अशरफ नेता, इनकी सियासी तंजीम के इतिहास का परिचय करना यहाँ आवश्यक है, अतीत से वर्तमान को समझने में पाठकों को आसानी होगी। हैदराबादी मजलिस का इतिहास भारत की आजादी से भी पुराना है। भारत की आजादी से पूर्व निजाम हैदराबाद उस समय भी दुनिया का सबसे अमीर आदमी था। निजाम हुकूमत की अपनी रेलवे, डाक सेवा, संचार, जहाज रानी, एयरलाइन फौज थी। हुकूमत की जीडीपी बेल्जियम के बराबर थी। निजाम के पास 22,000 फौज थी जिसमें अरब, पठान, रोहिल्ले आदि शामिल थे। निजाम ने भारत में विलय करने से इंकार कर दिया था, सितम्बर 1948 तक कई वार्ताओं के दौर चले लेकिन निजाम टस से मस न हुए। निजाम की निजामशाही के खिलाफ, उसके जमींदारों के खिलाफ आजाद भारत में आम जनता का पहला संगठित विद्रोह हुआ जिसका नेतृत्व भारत की कम्युनिस्ट पार्टी ने किया था। उन दिनों मजलिस हुआ करती थी जिसका नेता कासिम रिजवी था। भाड़े के सैनिकों को रखने में माहिर निजाम की हुकूमत बचाने (इस्लाम की हिफाजत पढ़े) के लिए कासिम ने निजाम के आदेश पर एक मिलिशिया का गठन किया जिसे 'रजाकार' के नाम से जाना जाता है। इसकी तादाद उन दिनों 2 लाख तक बतायी जाती है। आम मुस्लिम आबादी पर कासिम की पकड़ भी इस संगठन के जरिये समझी जा सकती है। उस जमाने में कासिम की तकरीरों और अकबरुद्दीन की तकरीरों में कोई बुनियादी फर्क नहीं

है, बस कुछ तात्कालिक मुद्दे और जुड़ गए हैं। कासिम रिजवी ने रजाकारों को भारतीय फौजों के खिलाफ लड़ने के लिए वही दलीलें दी थी जो अकबरुद्दीन ने दी है। बहरहाल निजाम की हुकूमत को 17 सितंबर 1948 में पाँच दिन का भारतीय फौजी अभियान 'आपरेशन पोलो' उर्फ पुलिस एक्शन के सामने घुटने टेक देने पड़े। निजाम के अरब कमांडर अल इद्रूस को जनरल चौधरी के सामने समर्पण करना पड़ा। इस लड़ाई में भारत के 32 फौजी मरे, निजाम की तरफ से मरने वालों की संख्या 1863 बतायी गयी लेकिन उन हालात में हुई व्यापक हिंसा में मरने वालों की संख्या विभिन्न इतिहासकारों के माध्यम से 50 हजार से दो लाख तक बताई जाती है।

उपरोक्त जानकारियाँ उन लोगों के लिये विशेषकर गौर तलब है जो अकबरुद्दीन के सियासी काफिले को अखिल भारतीय स्वरूप देने की हसरतें पाले बैठे हैं। उन्हें इतिहास के इस पाठ से यह सबक लेना होगा कि तत्कालीन निजाम और उसकी फौज, उसके संसाधन एक बालक राज्य भारत की फौजी कार्यवाही पाँच दिन न झेल सके, अब न निजाम है न उसकी फौज बस अकबरुद्दीन के लम्पटई तकरीरें हैं और उधर भारत एक विशाल सैन्य शक्ति है अब मुकाबला कैसे होगा? जंग तकरीरों से नहीं हथियारों से लड़ी जाती है लेकिन अकबरुद्दीन जैसे नेता अनपढ़ और मासूम आवाम को गुमराह करते रहे हैं। अकबरुद्दीन औवेसी की शकल में कासिम रिजवी की विरासत हैदराबाद में अभी जिंदा है। शुक्रे है कि आंध्र से बाहर अभी मजलिस को कोई मुसलमान घास नहीं डालता।

अकबरुद्दीन अपने भाषण में अपनी बहादुरी के किस्से सुनाते नहीं थकते। कोई भी पहली दफा सुनने वाला यह अनुमान लगाएगा कि उन्हें गोली मारने वाला शायद कोई हुकूमत का आदमी होगा। गोली शरीर में होने के किस्से इतने भावनात्मक तरीके से बुने गए जैसे सुनने वालों को लगे कि कौम की किसी जंग में अकबरुद्दीन को 3 गोली लगी, अभी एक गोली बाहर आना बाकी है। मंच से बार-बार कुरआन शरीफ, मौहम्मद का वास्ता देने, नमाज पढ़ने की ताकीद देने वाले इस शख्स की दुश्मनी किसी सरकार से नहीं न किसी गैर मुस्लिम से। मौहम्मद पहलवान नाम के एक शख्स से इनकी जमीन जायदाद को लेकर रंजिश है, उसी सिलसिले में मई 2011 में हुए एक कातिलाना हमले में अकबरुद्दीन ने कौम की खातिर गोलियाँ खायी थी। तब बच्चा-बच्चा इनके लिये रोया, नमाजे पढ़ीं, काबे में, करबला में दुआएँ हुईं और तब जाकर हबीबे मिल्लत अकबरुद्दीन की जान बची। न सुनने वाले को शर्म है न कहने

वाले को हया है। सच किसी तलवार की तरह सामने है बस थोड़ा तथ्यों पर गौर करना होगा और खुद बा खुद झूठ काफूर हो जायेगा।

अकबरुद्दीन अपने वाहियात तेवरों से पहले भी चर्चा में आ चुके हैं। तसलीमा नसरीन की हैदराबाद में मुखालफत करने, रुश्दी पर लगे फतवे को लागू करने के मजलिसी फरमान को वह पहले सार्वजनिक कर चुके हैं। जाहिर है ऐसे जज्वाती मुद्दों पर आम मुसलमान बहुत खुश होता है, उसकी खुशियों में चार चाँद लगाने के लिए उर्दू प्रेस ऐसे सवालों को हमेशा जिंदा रखती है और इन अखबारों को अकबरुद्दीन जैसा आदमी बिकवाने में मदद करता है। जो मुद्दा मुद्दा नहीं होता वह मुसलमानों के जहन में एक बड़ा सवाल बना दिया जाता है। इन बनावटी मुद्दों पर मजलिस जैसी जमाते चुनाव जीत जाती हैं। इक्कीसवीं सदी में इस्लाम के नाम पर सियासत करने वाले का मकान हैदराबाद के सबसे महंगे इलाके बंजारा हिल में है। जब ये श्रीमान तकरीर दे रहे हैं तब इस बात पर कोई गौर नहीं करता कि स्टेज पर एक भी महिला नहीं है। इनके पिता का इन्तेकाल हुआ संसदीय सीट खाली हुई तब इन्हें पार्टी में कोई दूसरा काबिल इंसान नहीं दिखा। इनके बड़े भाई आज अपने पिता की जगह संसद में बैठे हैं और खुद अकबरुद्दीन नेता मजलिस आंध्र प्रदेश विधान सभा सदस्य हैं।

मजलिस की चुनावी सफलता के सफर का अध्ययन करने पर कोई भी इस नतीजे पर पहुँच सकता है कि इसमें कांग्रेस का कितना बड़ा हाथ है? कांग्रेस के समर्थन और गठबंधन के बिना मजलिस का विधान सभा में पहुँचना संभव न था। कांग्रेस की धर्मनिरपेक्षता ने देश को एक से बढ़कर एक कद्दावर लम्पट नेता दिए हैं। बाला साहब ठाकरे को मुम्बई में उसके आरंभिक दिनों में यदि कांग्रेस का समर्थन न मिला होता तब क्या शिवसेना जैसी ताकत देश के राजनीतिक नक्शे पर नजर आती? आज अकबरुद्दीन आदिलाबाद में जिस बेअदबी के साथ भारतीय इतिहास के छक्के छुड़ा चुका है क्या वह सम्भव होता यदि उसके वालिद सलाहुद्दीन को सांसद बनवाने में कांग्रेस ने अतीत में मदद न की होती?

कांग्रेस के दिशाहीन और मूल्यरहित राजनीतिक व्यवहार ने देश की राजनीति को बहुत नुकसान पहुँचाया है। केरल में कम्युनिस्टों के खिलाफ मुस्लिम लीग से समझौता करना उसके वैचारिक दिवालियेपन और राजनीतिक अवसरवाद का परिणाम है जिससे देश की दक्षिणपंथी ताकतों को उसपर हमला करने का अवसर मिला बल्कि मुस्लिम कट्टरपंथी ताकतों को पैर जमाने का मौका मिला। अकबरुद्दीन की मौजूदा उवाच को मजलिस की राजनीतिक मोलभाव करने की बढ़ी ताकत के रूप में देखा जाना चाहिए। तेलंगाना आन्दोलन अपनी परिणति पर पहुँचने वाला ही है। यह अच्छा समय है जब राज्य में राजनीतिक स्थितियाँ पूरी तरह से तरल हैं इसी मौके का फायदा उठाकर मजलिस अपने मुस्लिम वोटों का चेहरा दिखाकर मोलभाव का प्रस्ताव रख रही है। जो सबक उसने पिछले दो दशकों

में कांग्रेस से सीखा है वह आज उसी पर पलटवार कर रही है।

उपरोक्त राजनीतिक परिदृश्य के अतिरिक्त मुसलमानों से जुड़ी, मूलभूत समस्याओं को भी नजरअंदाज नहीं किया जा सकता। जो प्रश्न अकबरुद्दीन ने उठाये हैं चाहे वह भूमि वितरण का प्रश्न हो या सरकारी आवासों के आबंटन में मुसलमानों के हिस्से का नदारद होना, गंभीर आरोप तो है ही साथ ही ये राज्य द्वारा मुसलमानों के प्रति रवैय्ये को भी स्पष्ट करते हैं। ये आरोप सरासर झूठे नहीं। भारत की 10 लाख की फौज में मात्र 29 हजार मुसलमानों की संख्या होना एक इत्तेफाक नहीं बल्कि किसी योजना का हिस्सा ही है। ठीक इसी तरह दूसरे इदारों में उनकी नौकरियों का प्रतिशत असामान्य रूप से कम होना। बैंक के कर्जों में, उसके मौहल्लों के विकास, शिक्षण संस्थाओं का अभाव आदि ऐसी समस्याएँ हैं जिन्हें न तो राज्य पिछले 65 वर्ष में पूरा कर सका बल्कि इन क्षेत्रों में उसे पीछे धकेलने का प्रयास सजग रूप से हुआ है। साम्प्रदायिक दंगों का अर्थशास्त्र भी मुस्लिम समुदाय के वर्ग हितों पर दक्षिणपंथी हमले के रूप में चिन्हित किया जा सकता है। समस्याएँ हैं, बहुत विकट प्रश्नों से जूझ रहे इस समुदाय को अकबरुद्दीन जैसे जहरीले फिरकापरस्त के सामने धकेलने में किन परिस्थितियों, दलों, सरकारों और राज्य शक्तियों का हाथ है इसकी पड़ताल की जानी चाहिए। यह वही हैदराबाद है जिसने वामपंथी उम्मीदवार आर एन रेड्डी को नेहरू से भी अधिक वोटों से जिता कर संसद में भेजा था, यह वही हैदराबाद है जिसकी चारमीनार सिगरेट मजदूरों के नेता मखदूम मोईनुद्दीन चुने गए थे, मखदूम इसी शहर से चुनाव जीत कर विधान सभा में कम्युनिस्ट पार्टी के नेता हुआ करते थे। क्या यह वही भूमि नहीं जिसने राजेश्वर राव जैसे कई बड़े नेता इस देश को दिए।

भारतीय राज्य अपने बहुजनों, अल्पसंख्यकों आदिवासियों के प्रति अपनी संवैधानिक जिम्मेदारियों को पूरा करने में असफल हुआ है। क्षेत्रीय संप्रभुता को बनाये रखने के नाम पर कभी कश्मीर तो कभी उत्तर पूर्व में अभूतपूर्व शक्ति का प्रयोग करके विभिन्न सामाजिक समूहों को अपने प्रभामंडल से उसने विरक्त किया है। देश की न्यायप्रणाली और उसके राजनीतिक प्रश्रय ने लोकतंत्र का भद्दा मजाक उड़ाते हुए बाल ठाकरे, मोदी, तोगड़िया, आडवानी, सिंघल, ऋतंभरा जैसे खलनायकों को पैदा किया है। अदालतें दोषियों को सजा न दे सकी, अपराधी संसद में राजसत्ता की मलाई चाटते दिखे तब ऐसी निराशा में छत्तीसगढ़ में आदिवासी अगर हथियार बंद आन्दोलन चला सकते हैं तब अकबरुद्दीन जैसे अनासिर को नारा इ तकबीर-अल्लाहु अकबर के नारे के साथ राजनीति करने से कौन रोक सकता है?

पूरा देश आज इन तमाम हरकतों को देख रहा है। धर्म का धूर्ततापूर्ण राजनीतिक इस्तेमाल और उसके फायदे -नुकसान आज सभी के सामने हैं। भगवा राष्ट्रवाद नरेन्द्र मोदी के विकास की आड़

में दिल्ली कब्जाने की फिराक में लगा है। जो सत्ता में है वह मुस्लिम कट्टरपंथी ताकतों को उकसा कर अपनी रोटियाँ सेकने में व्यस्त है। बहुजन स्वामी ताकतें अपनी स्वार्थ सिद्धि में व्यस्त हैं, जनवादी ताकतें अपनी लगातार हुई हारों के कारण पस्त हैं, यही सही वक्त है अकबरुद्दीन के लिए जिसने कहा 'जिसकी लाठी उसकी भैंस'। दक्षिणपंथी हिंदुत्व ताकतों ने ठाकरे को चालीस साल जिन्दा रखा, मोदी पिछले 15 साल से जिन्दा है। अब मुसलमान दक्षिणपंथी ताकतों

की बारी है, पहले उनका ईमान दाऊद पर आया, मजहबी ऐतबार से जाकिर नायक उनका महानायक बनता जा रहा है (सैंकड़ों हिन्दू बाबा बाबी के महा प्रचार तले यह मुस्लिम ऑफ शाट है) अब सियासी ठाकरे टाईप नेता की कमी थी इस महाशून्य को अशरफी मुसलमान अकबरुद्दीन औवेसी ने पूरा करने का ऐलान कर दिया है। फिलहाल वह लंदन से पाकिस्तानी मुहाजिर नेता अलताफ हुसैन की भाँति दूर से नजारा कर रहा है। □

जापान में अपराध स्वीकार करते हैं बेगुनाह लोग

हमारे देश में सबको पता है कि पुलिस सच कैसे उगलवाती है। लेकिन हाल ही में जापान में कई ऐसे मामले सामने आये हैं जिनमें पुलिस ने लोगों से अपराध स्वीकार करवाया, उनकी गिरफ्तारी हुई और बाद में वे बेगुनाह साबित हुए।

याकोहामा की एक वेबसाइट पर किसी प्राथमिक विद्यालय पर हमला कर सभी बच्चों को मार डालने की धमकी वाला पोस्ट डालने के जुर्म में पुलिस ने चार लोगों को गिरफ्तार किया। इस गिरफ्तारी में 19 साल का एक युवक भी हिरासत में लिया गया जिसने अपना अपराध भी स्वीकार कर लिया। लेकिन 9 अक्टूबर को असली अपराधी ने योजी ओचिआई नाम के एक वकील को ईमेल भेजा कि कैसे वायरस के जरिए किसी दूसरे के नाम से वे इस तरह के धमकी भरे ईमेल भेजते हैं।

सवाल उठना लाजमी था कि आखिर एक बेगुनाह किन परिस्थितियों में उस अपराध को स्वीकार करने के लिए तैयार हो गया जो उसने किया ही नहीं था? ओचियाई का कहना था कि मुझे इस बात पर कोई आश्चर्य नहीं हुआ कि मासूम और बेगुनाह लोगों को अपराध स्वीकार करना पड़ रहा है। पिछले सालों में इस तरह के कई मामले सामने आये हैं।

ऐसे ही एक अन्य मामले में हत्या और डकैती के जुर्म में शोजी सकुराई को 29 साल तक जेल में रहना पड़ा। शोजी को जब गिरफ्तार किया गया था तो उनकी उम्र 20 साल थी और अपनी बेगुनाही साबित करने में उन्हें 15 साल और लग गये। उन्हें और उनके एक मित्र सुगियामा को हत्या का मुख्य अभियुक्त बना दिया गया और उनके साथ वैसा ही बर्ताव किया गया जैसा असली अपराधी के साथ होता है। उन्होंने बताया कि पुलिस मुझसे दिन रात सवाल-जवाब करती रही और पाँच दिन बाद जब मेरे पास

मानसिक ताकत नहीं बची तो मैंने अपराध स्वीकार कर लिया।

जापान में अपराध के मामलों में सजा सुनाए जाने की दर 99 फीसदी है और जिसमें ज्यादातर कबूलनामों पर आधारित होते हैं। अगर कोई व्यक्ति अपराध स्वीकार करने के लिए तैयार हो तो अदालत उसे दोषी मान कर सजा दे देती है।

जापान में पुलिस के पास जाँच के सीमित अधिकार हैं और वहाँ जाँच से अधिक अपराधी के इकबालिया बयान को महत्त्व दिया जाता है। इसलिए पुलिस किसी बेगुनाह पर गुनाह कबूलने का दबाव बनाती है, ताकि वह अपनी कर्मठता साबित कर सके। हालत यह है कि साइबर फ्राइम के नाम पर पुलिस द्वारा किये जाने वाले इस अपराध का शिकार कोई भी बेगुनाह हो सकता है जो इंटरनेट का इस्तेमाल करता हो।

जापान जैसे विकसित देश में किस तरह इकबालिय बयान लिये जाते हैं ये उसकी एक छोटी सी तस्वीर भर हैं। हमारे देश में ये बयान किस तरह दर्ज किये जाते हैं यह सभी को पता ही है। इस काम के लिये हमारे यहाँ पुलिस थर्ड डिग्री और न जाने कितने तरह के अमानवीय तरीके अपनाती है। इतना ही नहीं, यहाँ फर्जी एनकाउन्टर आये दिन होने वाली पुलिस कार्रवाई बन गया है, जिस पर किसी को कोई आश्चर्य नहीं होता। हिरासत में मौत, बिना वारन्ट गिरफ्तारी और कई-कई दिनों तक उत्पीड़न करना काफी प्रचलित है। आज भी भारी तादाद में बेगुनाह लोग अपनी जिंदगी जेलों में गुजार रहे हैं। आखिर ये कैसा समाज है जो निर्दोष लोगों से जबरन इकबालिया बयान लेकर उन्हें सलाखों के पीछे डाल देता है। क्या ऐसे समाजों को लोकतंत्र कहना लोकतंत्र का मजाक नहीं? □

नायपॉल को क्यों सम्मानित किया जा रहा है?

(लैंडमार्क लिटरेचर लाइव के मुम्बई साहित्य उत्सव में गिरीश कर्नाड को नाटककार के रूप में अपने जीवन की उपलब्धियों पर विचार रखने के लिये आमंत्रित किया था, लेकिन उन्होंने वहाँ नायपॉल के व्यक्तित्व और कृतित्व का खुलासा करना जरूरी समझा, जिन्हें लाइफटाइम अचीवमेन्ट अवार्ड दिये जाने के अवसर पर वह कार्यक्रम आयोजित था। आयोजकों को भले ही यह नागवार गुजरा हो, लेकिन उनके इस भाषण ने नायपॉल के विचारों और उनको पुरस्कृत-प्रतिष्ठित किये जाने की पूरी परिघटना को समझने का एक सही परिप्रेक्ष्य दिया है। प्रस्तुत है उस भाषण का सम्पादित अंश।)

लैंडमार्क लिटरेचर लाइव ने मुम्बई साहित्य उत्सव में सर विद्याधर सूरजप्रसाद नायपॉल को इस वर्ष का लाइफटाइम अचीवमेन्ट अवार्ड प्रदान किया। नेशनल सेन्टर फॉर परफॉर्मिंग आर्ट्स में 31 अक्टूबर को आयोजित पुरस्कार समारोह में किसी ने शर्म के मारे इस बात की चर्चा नहीं की कि नायपॉल न तो भारतीय हैं और न ही उन्होंने कभी ऐसा दावा ही किया है। किसी ने इस पर कोई सवाल नहीं उठाया और उपन्यास लेखिका शशि देशपाण्डे ने भारतीय सांस्कृतिक सम्बन्ध परिषद द्वारा आयोजित नीमराना उत्सव के बारे में जो कुछ कहा था, वह इस आयोजन पर भी सटीक बैठता है- “यह एक नोबेल पुरस्कार विजेता का जश्न था, जिसे भारत बड़ी उम्मीद और चापलूसी भरे अंदाज में भारतीय मानता है।”

उनके दो उपन्यासों में भारत से सम्बंधित घटनाएँ हैं और उनमें काफी गहराई है। इसके अलावा नायपॉल ने भारत के बारे में तीन किताबें लिखी हैं, जो शानदार तरीके से लिखी गयी हैं- निश्चय ही वे हमारी पीढ़ी के महान अंग्रेजी लेखकों में से एक हैं। आधुनिकता की और भारत की यात्रा की निरन्तर खोज के रूप में इन कृतियों का स्वागत हुआ है, लेकिन उनकी पहली किताब *द वूडेड सिविलाइजेशन* से ही जो चीज किसी को भी खटकती है, वह है भारतीय मुसलमानों के प्रति उनका उन्मादपूर्ण विद्वेष। शीर्षक में जिस “जख्म” का उल्लेख है, वह बाबर के हमले द्वारा भारत को दिया गया जख्म है। तभी से, नायपॉल ने यह बताने का कोई मौका हाथ से जाने नहीं दिया कि उन्होंने भारत को पाँच सौ सालों तक क्षत-विक्षत किया, दूसरी तमाम बुराइयों के अलावा उन्होंने यहाँ गरीबी पैदा की और यहाँ की गौरवशाली संस्कृति को नष्ट किया।

इन किताबों के बारे में एक बात जो एकदम खटकती है वह यह कि भारतीय संगीत के बारे में इनमें से किसी भी किताब में एक भी शब्द नहीं है। और मेरा मानना है कि अगर संगीत पर ध्यान नहीं देते तो आप भारत को समझ ही नहीं सकते। संगीत

भारतीय अस्मिता को परिभाषित करने वाला कला रूप है। आधुनिक भारतीय संस्कृति की समग्र खोज करते हुए इस विषय पर नायपॉल की चुप्पी मेरे लिये इस बात का सबूत है कि वे सुर बधिर हैं- जिसकी वजह से वे हिंदू-मुस्लिम सृजनशीलताओं के उस जटिल अन्तरगुम्फन के प्रति असंवेदनशील हो गये हैं जो भक्ति और सूफी आन्दोलनों का प्रतिफल है, जिसने हमें असाधारण विरासत सौंपी है जो हर भारतीय परिवार के दिल में जिन्दा है।

हालाँकि इस कमी के बावजूद, नायपॉल ने विलियम जोन्स जैसे 18वीं और 19वीं सदी के ब्रिटिश संगीतशास्त्रियों से भारी मात्रा में भारतीय संस्कृति के सिद्धांत उधार लिए हैं। ये विद्वान कई दूसरी प्राचीन सभ्यताओं से भी परिचित थे, जैसे- मिस्र, यूनान और रोम। लेकिन वे इस बात से चकित थे कि इन सभ्यताओं के साथ ही इनकी संगीत परम्परा पूरी तरह विलुप्त हो गयी, जबकि भारतीय संगीत परम्परा जीवित और फलती-फूलती रही। उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि एक समय का यह विशुद्ध और प्राचीन संगीत लम्बे इतिहास के दौरान किसी खास मोड़ पर भ्रष्ट और विकृत कर दिया गया- और इस खलनायक को उन्होंने हमलावर मुसलमानों के रूप में ढूँढ निकाला। इस तरह उनकी राय में, किसी समय एक प्राचीन भारतीय संगीत की संस्कृति रही थी, जिसके साथ मुसलमानों ने छेड़खानी की।

भारतीय संस्कृति के अपने विश्लेषण में नायपॉल ने सीधे-सीधे इसी तर्क-रेखा को उधार लेकर उसे पुनर्बहाल किया है- अपनी मौलिक धारणा के रूप में। और ऐसा उन्होंने कोई पहली बार नहीं किया है।

नायपॉल ने आर.के. नारायण पर आरोप लगाया कि वे विजयनगर के खण्डहरों से जिस तबाही और मौत का संकेत मिलता है, उसके प्रति उदासीन हैं, जो उनकी निगाह में हिंदू संस्कृति का एक गढ़ था और जिसे लूटेरे मुसलमानों ने तबाह कर दिया। लेकिन विजयनगर के इतिहास की यह व्याख्या, उन्हें सन् 1900 में प्रकाशित

रॉबर्ट सेवेल की किताब *ए फॉरगोटन एम्पायर* से पकी-पकायी मिल गयी। नायपॉल, हमेशा की तरह अपने औपनिवेशिक स्रोतों के प्रति नतमस्तक, किसी सिद्धांत को सीधे-सीधे उधार लेते हैं और उसे पूरी तरह अपना बताते हुए दुहराने लगते हैं। पिछली सदी से ही उस स्थल पर कार्यरत इतिहासकारों और पुरातत्त्ववेत्ताओं ने यह साबित किया है कि परिस्थितियाँ कहीं ज्यादा जटिल थीं और दिखाया है कि इस टकराव में धर्म की नाममात्र की भी किसी भूमिका का उनके लिये कोई मायने नहीं।

ताज के बारे में, जो भारत में सबसे प्यारा स्मारक है, नायपॉल लिखते हैं- “ताज इतना फालतू, इतना पतनशील और अंततः इतना क्रूरतापूर्ण है कि वहाँ देर तक ठहरना पीड़ादायी है। यह एक फिजूलखर्ची है जो जनता के खून का बयान करता है।” इतिहासकार रोमिला थापर के इस तर्क को कि मुगल काल हिंदू और मुस्लिम शैली के मिश्रण की समृद्ध प्रफुल्लता को दर्शाता है, वे यह कहते हुए नकार देते हैं कि उनका यह निर्णय मार्क्सवादी पूर्वाग्रह की देन है और कहते हैं- “सही सच्चाई यह है कि हमलावर अपनी कार्रवाइयों को कैसे देखते थे। वे जीत रहे थे। वे गुलाम बना रहे थे।” नायपॉल के लिए भारतीय मुसलमान हमेशा हमलावर बने रहते हैं, हमेशा निंदनीय और निरादर के लायक हैं, क्योंकि उनमें से कुछ के पूर्वज हमलावर थे। यह एक ऐसी रीति है जिसे अमरीका पर आजमाया जाय तो इसके कुछ विस्मयकारी नतीजे सामने आयेंगे।

जहाँ तक नायपॉल के आधुनिक भारत की पत्रकारों जैसी खोज की बात है, यह मुख्यतः नाना प्रकार के भारतीय लोगों के साक्षात्कार की एक पूरी श्रृंखला की शैली में है। मानना पड़ेगा कि यह बहुत ही अच्छी तरह लिखी गयी है और वे जिन लोगों से मिलते हैं और जहाँ-जहाँ जाते हैं, उनका बहुत ही तीक्ष्ण और सटीक चित्र खींचते हैं। जो चीज कुछ ही देर बाद झुंझलाहट पैदा करती है, वह यह कि बिना किसी अपवाद के वे जिस भी व्यक्ति से बात करते हैं, ऐसा लगता है कि वे जो भी सवाल करते हैं, उसका वह व्यक्ति उसी विवेकशीलता और रमणीयता से जवाब देता है, जो खुद उन्हीं की शैली है। यहाँ तक कि कम पढ़े-लिखे लोग भी उनके प्रश्नों का निस्संकोच उत्तर देने की व्याधि से ग्रस्त होते हैं।

वे जिन वार्तालापों को रिकॉर्ड करते हैं, वे कितने विश्वसनीय होते हैं? अपने एक मशहूर निबंध में नायपॉल ने नेशनल इंस्टीच्यूट ऑफ डिजाइन, अहमदाबाद की यात्रा का वर्णन किया है, जहाँ वे उस संस्थान के निदेशक, अपने मित्र, अशोक चटर्जी के साथ ठहरे थे। हाल ही में एक ई मेल में श्री चटर्जी ने कहा कि वह लेख “एक ऐसा कथानक है, जैसा हो सकता था, लेकिन वह नहीं है जो

(नायपॉल ने) वहाँ वास्तव में देखा था। यथार्थ के टुकड़े, चुनिन्दा और विशुद्ध कल्पना के कोलाज में एक साथ सजाये गये।” चटर्जी की नायपॉल के साथ मित्रता का अचानक अंत हो गया, जब चटर्जी ने नायपॉल से कहा कि उनकी किताब, *ए वूडेड सिविलाइजेशन* को गल्प की श्रेणी में रखा जाना चाहिए।

एक ताजा किताब में नायपॉल ने 19वीं सदी के अंत में सूरीनाम जा कर बसनेवाले मुंसी रहमान खान की आत्मकथा का परीक्षण किया है और गांधी के साथ उनका विरोधाभास चिह्नित किया है। इतिहासकार संजय सुब्रमण्यम ने उस निबंध की समीक्षा की और उनको यह पता लगाने में ज्यादा प्रयास नहीं करना पड़ा कि नायपॉल महज उसके मूल पाठ का तीसरी भाषा में किया गया अनुवाद ही पढ़ पाये। “यह वैसे ही है, जैसे गोरखपुर का कोई पाठक नायपॉल को मैथिली भाषा में पढ़े और वह भी तब जबकि उसका अनुवाद जापानी भाषा से किया गया हो।” लेकिन यह चीज नायपॉल को रहमान खान की शैली और उनके भाषा सम्बंधी प्रयोग पर निर्णायक टिप्पणी करने से नहीं रोकती।

निश्चय ही यह सवाल है कि लाइफटाइम अचीवमेन्ट अवार्ड देकर पुरस्कार देने वालों द्वारा क्या सन्देश दिया जा रहा है। एक पत्रकार के रूप में वे भारत के बारे में क्या लिखते हैं, यह उनका मामला है। कोई भी उनके लापरवाह होने और छलकपट करने के अधिकार पर सवाल नहीं उठा सकता।

लेकिन नोबेल पुरस्कार ने उन्हें अचानक एक प्राधिकार दे दिया है और उनके द्वारा इसके इस्तेमाल पर नजर रखना जरूरी है।

नोबेल पुरस्कार मिलने के बाद नायपॉल ने सबसे पहले जो काम किये, उनमें से एक यह था कि वे भाजपा के दिल्ली कार्यालय में गये। जिन्होंने पहले यह घोषित किया था कि वे राजनीतिक नहीं हैं, क्योंकि “राजनीतिक दृष्टिकोण रखना प्रोग्राम्ड होना है,” अब घोषित किया कि वे राजनीतिक रूप से “सही जगह आकर” खुश हैं। यह तभी की बात है जब उन्होंने अपनी बहुत ही प्रसिद्ध टिप्पणी की थी- उन्होंने कहा था कि “अयोध्या एक तरह का जुनून है। कोई भी जुनून रचनात्मक होता है। भावोद्रेक रचनात्मकता की ओर ले जाता है।”

सलमान रुश्दी की प्रतिक्रिया थी कि नायपॉल का व्यवहार “फासीवाद के सहयात्री जैसा है और वे नोबेल पुरस्कार का अपमान कर रहे हैं।”

एक विदेशी के लिए अयोध्या किसी अमूर्त सिद्धांत का मनोरंजक प्रमाण हो सकता है जिसे उसने खुद गढ़ा हो (या उसे पका-पकाया मिल गया हो)। लेकिन इसी अयोध्या के चलते अकेले

मुम्बई की सड़कों पर ही 1500 मुसलमानों का कल्लेआम हुआ था। जिस समय दंगा भड़का, मैं दिल्ली के एक फिल्म फेस्टिवल में शामिल था और मुम्बई से मेरे दोस्तों के आक्रोश भरे फोन आ रहे थे कि मुसलमानों को उनके घरों से खींचकर या सड़कों पर रोक कर उनकी हत्या की जा रही है। मैंने अपने मुस्लिम संपादक को फोन करके बताया कि जब तक स्थिति सामान्य न हो जाय, वे अपने परिवार सहित हमारे फ्लैट में जा सकती हैं, जो पारसी बहुल इलाके में है। महान मराठी अभिनेत्री फय्याज, जिसके बारे में आखिरकार एक हफ्ते बाद मुझे पता चला कि वह डर कर मुम्बई से पुणे भाग आयी थी, उसने बताया कि किस तरह शिव सैनिकों ने मुस्लिम झुग्गी-बस्तियों में बम फेंक कर आग लगायी और जब वहाँ के निवासी आतंकित हो कर घरों से बाहर निकले तो पुलिस ने उन्हें बलवाई कह कर गोली मार दी।

सात साल बाद नायपॉल इन घटनाओं को बड़े ही निर्मम ढंग से “जूनून” कह कर महिमामण्डित कर रहे थे, इसे “रचनात्मक कार्रवाई” बता रहे थे।

यह ध्यान देने योग्य है कि पुरस्कार के प्रसस्ति-पत्र में नायपॉल के समाजशास्त्रीकरण के इस पहलू का कोई उल्लेख नहीं किया गया है। फारूख ढोंडी ने भी अपने साक्षात्कार में इसका जिक्र नहीं किया, हालाँकि उन्होंने *एमंग द विलिव्हर* किताब का नाम लिया और फिर तुरंत इस बात की लम्बी-चर्चा में मशगूल हो गये कि 13 साल पहले किस तरह उन्होंने विदियाधर को एक बिल्ली को गोद लेने में मदद की थी और कैसे एक दिन वह उनकी गोद में पड़ी-पड़ी सो रही थी- जिस बात ने नायपॉल को एक और मौका दे दिया कि वे भावुकता में बह कर फूट-फूट कर रो पड़े। शायद ढोंडी यह साबित करने की कोशिश कर रहे थे नायपॉल कितने “मानवीय” हैं।

लेकिन जिस लैंडमार्क लिटरेचर लाइव ने इस अवार्ड की घोषणा की है, उसकी यह जिम्मेदारी है कि वह हम लोगों को बताए कि वे नायपॉल की टिप्पणियों से सहमत है या नहीं। क्या वे नायपॉल की इस समझ का भाव बढ़ाना चाहते हैं कि भारतीय मुसलमान आक्रांता और लूटेरे हैं? क्या वे उनके द्वारा लगातार दिये जाने वाले इस तर्क का समर्थन कर रहे हैं कि भारत की मुस्लिम इमारतें बलात्कार और लूट के स्मारक हैं? या वे अपनी चुप्पी के जरिये यह बता रहे हैं कि इन विचारों के कोई मायने ही नहीं है?

अगर यह अवार्ड देने वाले लोग इस बाहरी व्यक्ति द्वारा भारतीय आबादी के एक समूचे तबके को बलात्कारी और हत्यारा

बताते हुए उसे अपराधी करार देने की अपनी राय पर जानबूझ कर चुप हैं, तो हमें कहने दिया जाय कि यह चुप्पी लापरवाही से भी अधिक बुरी है। यह हतप्रभ कर देने वाला है।

जहाँ तक इस अवार्ड का सवाल है, इसे शर्मनाक ही कहा जा सकता है।

(गिरीश कर्नाड के भाषण का सम्पादित अंश मिन्ट से साभार। अनुवाद- दिगम्बर) □

वी. एस. नायपाल की नजर में भारत

‘जाति प्रथा ऐसा मित्रवत समाज है जो बुरे वक्त म. लोगों को हर तरह की मदद पहुँचाता है, भारत म. ज्यादातर लोगों के लिये यह ऐसा ही रहेगा’
(‘भारत वी. एस. नायपाल की नजर से’ 9 सितम्बर 2001, नेशनल रेडियो, ऑस्ट्रेलिया)

यह कहना कि भारत का एक धर्मनिरपेक्ष चरित्र है ऐतिहासिक तौर से ठीक नहीं है। यह भले ही खतरनाक हो या नहीं, पर हिंदू आक्रामकता जिसके बारे म. मैं बात कर रहा हूँ वह इतिहास के लिये सुधारक है। यह एक रचनात्मक शक्ति है और ऐसी ही रहेगी। इस्लाम इसके साथ सामंजस्य नहीं बिठा सकता’ (15 नवम्बर 1999, आउटलुक)।

अगस्त 2001 म. फारूख ढोंडी को दिये गये एक साक्षात्कार म., वह भारत के बारे म. अपनी पहली किताब, एन एरिया ऑफ डार्कनेस, के बारे म. कहते हैं, ‘सच्चाई यह है कि मैंने भारत म. जो कुछ देखा, उससे मैं व्यथित हो गया। मैंने जो चीज. देखी वे बार-बार घटित होने वाली थी और मुझे ऐसा नहीं लगा कि उस बारे म. कोई किताब लिखी जा सकती है। मुझे ऐसा अहसास हुआ कि मेरी यात्राओं म. कोई किताब नहीं है और उसके तीन महीने बाद तक मैंने कुछ नहीं किया। मेरे सामने आंद्रे डाएच से एडवांस के तौर पर मिले हुए 500 पाउंड वापस करने की नौबत आ गयी, तब मैंने यह किताब लिखी।’

वेनेजुएला में एक बार फिर शावेज की जीत

-अमरपाल

अमरीका की लाख कोशिशों के बावजूद वेनेजुएला में जनता की जीत हुई है। 1999 से अब तक ह्यूगो शावेज की यह चौथी जीत है। चुनाव जीतने के बाद शावेज ने 10 लाख से भी अधिक समर्थकों की भीड़ को सम्बोधित करते हुए कहा कि 'मैंने आपको कभी धोखा नहीं दिया है, मैंने आपसे कभी झूठे वादे नहीं किये हैं', 'सीमोन बोलिवार के देश में क्रान्ति की जीत हुई है। नतीजों ने दिखा दिया कि जनता शावेज के साथ है'। शावेज ने कहा कि 'योजना बनाने में पूरे देश को शामिल किया जायेगा और मैं वादा करता हूँ कि वेनेजुएला कभी भी नवउदारवाद के रास्ते पर नहीं जायेगा।'

ब्राजील के भूतपूर्व राष्ट्रपति लूला डिसिल्वा ने वेनेजुएला में शावेज की जीत पर कहा कि 'शावेज की जीत न केवल वेनेजुएला की जनता की जीत है बल्कि यह समूची लातिन अमरीकी जनता की जीत है। इस जीत से अमरीकी साम्राज्यवाद को एक और धक्का लगेगा'।

यह शावेज का अब तक का सबसे कठिन चुनाव था। क्योंकि शावेज को सत्ता से बाहर करने के लिए अमरीकी विदेश मंत्रालय ही नहीं बल्कि अमरीकी मीडिया भी शावेज विरोधी पार्टियों का मुखपत्र बन गया। पूरे चुनाव के दौरान कार्टर सेन्टर के अधिकारियों और अमरीकी मीडिया ने दुष्प्रचार किया कि शावेज के समर्थक हर हाल में चुनाव में धांधली करेंगे और राजधानी कराकास की सड़कों पर वेनेजुएला के नेशनल गार्ड एके 47 के साथ गश्त कर रहे हैं। 7 अक्टूबर के चुनाव से पहले मीडिया ने इसे 'कॉटे की टक्कर' या 'शावेज की तानाशाही' कहा। यह भी झूठा प्रचार किया गया कि वेनेजुएला की स्थिति बहुत खराब है जिसके चलते वेनेजुएला की जनता ह्यूगो शावेज के खिलाफ है। इसे शावेज का अंतिम चुनाव बताते हुए वेनेजुएला में अमरीकी पिट्टू मीडिया के पंडितों ने ह्यूगो शावेज के दौर का अंत भी घोषित कर दिया था। पूरे पश्चिमी जगत और अमरीकी मीडिया ने वेनेजुएला की जनता को और अन्य सभी देशों की जनता को भ्रमित करने के लिए बिना सिर-पैर की बातें

फैलायी। ताकि शावेज को किसी भी कीमत पर हराया जा सके। अमरीका ने सद्दाम और गद्दाफी से तो झुटकारा पा लिया लेकिन जॉर्ज बुश प्रशासन द्वारा 2002 में तख्ता पलट की अपनी अंतिम दम तक कोशिश के बावजूद शावेज को सत्ता से बाहर करने में उसे नाकामयाबी हाथ लगी है। तभी से इस क्षेत्र में अमरीका की पकड़ कमजोर होती जा रही है। इसके लिए अमरीका का सबसे महत्वपूर्ण एजेण्डा था कि एक ऐसा नेता तलाशा जाय, जो उन पुराने दिनों को वापस ला सके जिनमें व्यापारिक घरानों का कब्जा था और

जिनकी चाबी अमरीका के हाथ में रहती थी। शावेज विरोधी पार्टी में ऐसे नेताओं की भरमार है जो नवउदावादी नीतियों के समर्थक हैं। इसके लिए अमरीका ने वेनेजुएला की शावेज विरोधी 30 पार्टियों को डेमोक्रेटिक यूनिटी राउण्ड टेबल (एमयूटी) नाम की पार्टी के झण्डे के नीचे एकत्रित कर एक समूह बनाया और हेनरिक केपरेल्स रदोनस्की को इसका नेता बनाकर एक अच्छे राजनेता के रूप में पेश किया। उसे ब्राजीली नेता लूला डिसिल्वा के समतुल्य बताया गया जबकि वह एक

अगर हम ऐसा नहीं करते तो संसार की सबसे अद्भुत रचना, मानव जाति गायब हो जायेगी... इस धरती को मानवता की समाधि न बनायें, इसमें हम समर्थ हैं। आइए इस धरती को स्वर्ग बनायें, जीवन का, शान्ति का स्वर्ग, सम्पूर्ण मानवता के लिए, मानव जाति के लिए, शान्ति और भाईचारा।

—ह्यूगो शावेज

कोपेनहेगन सम्मेलन में भाषण

रईस परिवार की संतान है और अपनी जवानी के दिनों में ही कंजरवेटिव (घोर पूँजीपती) राजनीति का समर्थक रहा है। हेनरिक के समर्थकों ने ही 2002-03 में 'मालिकों की हड़ताल' से वेनेजुएला की अर्थव्यवस्था को ध्वस्त करने की कोशिश की थी। इस हड़ताल को गरीब, मजदूरों ने ही विफल किया था जो शावेज के समर्थक हैं और आज भी शावेज के साथ खड़े हैं। हेनरिक ने 2002 में अपने समर्थकों द्वारा शावेज का अपहरण करा कर तख्ता पलट करवाने में अमरीका का साथ दिया था और क्यूबाई दूतावास के सामने हिंसक प्रदर्शन का नेतृत्व भी किया था। वह 1960-70 के दशक में दक्षिण अमरीका के हिस्से पर काबिज सैनिक सत्ता का भी समर्थक रहा है। वह 29 हजार क्यूबाई डॉक्टरों और पैरा मेडिकल कर्मचारियों का भी विरोधी है। जो वेनेजुएला के गरीबों की सेवा में निशुल्क काम कर रहे हैं। हेनरिक कम विकसित और प्रतिबंधित देशों में सस्ते दामों में तेल देने का भी विरोधी है।

विकीलैक्स ने खुलासा किया है कि वेनेजुएला में शावेज विरोधी पार्टियाँ अमरीकी दूतावास से सांगठनिक और वित्तीय सहायता पा रही है। मीडिया में हेनरिक केपरेल्स का एक दस्तावेज लीक हुआ जिसमें लिखा था कि अगर वह चुनाव जीत गया तो नवउदारवादी नीतियों को लागू करेगा। इस दस्तावेज में भोजन और गरीब इलाकों में स्थापित किये गये सामुहिक गोदामों पर से सरकारी सहायता समाप्त करने की बात कही गयी है। जबकि हेनरिक का चुनावी वादा था कि वह शावेज की अधिकतर घरेलू नीतियों को जारी रखेगा और गरीब लोगों को मकान भोजन, शिक्षा और स्वास्थ्य पर सरकारी छूट रहेगी। हेनरिक केपरेल्स के दस्तावेज लीक होने से उनकी करनी कथनी साफ समझ में आती है। पूरी कार्यवाही बहुत सड़यंत्र के साथ की गयी थी। इतनी की अपने मोर्चे में शामिल सभी पार्टियों को हेनरिक रदोनस्की अपनी नीतियाँ बताकर अपने विश्वास में नहीं लिया और उनसे भी झूठ बोला। इसका ताजा उदाहरण यह है कि चुनाव की पूर्व संध्या पर हेनरिक के दस्तावेज लीक होने वाले इस तथ्य की बात मोर्चे का हिस्सा रही। तीन पार्टियों ने उसे छोड़ दिया। इस तथ्य ने शावेज के विपक्षियों और अमरीकी सड़यंत्र की पोल खोल दी है।

शावेज की जीत को स्वीकार करने के बजाय यह साम्राज्यवादी तंत्र अभी अपनी पूरी ताकत से पूरी दुनिया को गफलत में डालने और उन्हें भ्रमित करने के लिए और ह्यूगो शावेज की छवि खराब करने व दुनिया में बदनाम करने के लिए अपना प्रचार जारी रखे हुए है कि वेनेजुएला में मीडिया पर सरकारी एकाधिकार है जिसके चलते शावेज की जीत हुई है। हकीकत यह है कि वेनेजुएला की मीडिया पर 94 फीसदी कब्जा विरोधियों का है। देश के दो सबसे बड़े अखबार भी शावेज और उनकी सरकार के घोर विरोधी हैं। 88 फीसदी रेडियो स्टेशनों पर भी देश के पूँजीपतियों का कब्जा है जो शावेज से नफरत करते हैं। केवल 6 फीसदी इलैक्ट्रॉनिक और प्रिंट मीडिया पर और 12 फीसदी रेडियो स्टेशनों पर शावेज की सरकार या जनता का अधिकार है।

अमरीकी मीडिया के इस दुष्प्रचार की पोल भी भूतपूर्व अमरीकी राष्ट्रपति जिमी कार्टर की संस्था 'कार्टर सेंटर' के द्वारा खुल जाती है। यह संस्था दुनिया के तमाम देशों के चुनाव को मॉनिटर करती है। इस चुनाव में भी 'कार्टर सेंटर' ने पर्यवेक्षक की भूमिका निभायी है और चुनाव के बाद वेनेजुएला की चुनावी व्यवस्था की प्रशंसा करते हुए कहा कि 'सच्चाई यह है कि अब तक हमने दुनिया के 92 चुनावों को मॉनिटर किया है उनमें से वेनेजुएला के चुनावों की प्रक्रिया सर्वोत्तम दिखायी दी।' इसके बाद भी अमरीका ने अपनी खीज मिटाने के लिये वेनेजुएला की आम जनता को कोसना शुरू किया कि वेनेजुएला की जिस गरीब जनता ने शावेज को चुना उसने

यह नहीं सोचा कि इसके भावी नतीजे क्या होंगे। भले ही एक स्वतंत्र और निष्पक्ष चुनाव के जरिये शावेज विजयी हुये हों, लेकिन जनता को आभास नहीं है कि शावेज की वजह से लगातार उनका देश गर्त में जा रहा है। उसने यह भी बताने की कोशिश की कि देश की कीमत पर व्यक्ति के प्रति अपनी पसंदगी जाहिर की है। वहीं एक अन्य अमरीकी अखबार 'फाइनेंशियल अखबार' ने शावेज को दुबारा चुने जाने को देश के लिये एक 'गहरा आघात' बताया और एसोसियेट प्रेस ने अपनी खबर में बताया कि जनता राजनीतिक यथार्थ को समझने में नाकाम रही है। वेनेजुएला में 80 फीसदी मतदान हुआ है और अमरीका में 62 फीसदी। फिर किस देश की जनता ने लोकतंत्र में ज्यादा भरोसा किया है। मतदान के इन आँकड़ों से हम समझ सकते हैं। जाहिर है कि मीडिया ने शावेज के खिलाफ पूरी दुनिया की जनता को भ्रमित करने की लगातार कोशिश की है।

क्या वेनेजुएला की जनता ह्यूगो शावेज और यथार्थ की राजनीति को समझने में नाकाम रही है? आइये एक नजर शावेज की उपलब्धियों पर डालें।

पिछले 13 वर्षों में वेनेजुएला को जो उपलब्धियाँ हासिल हुई हैं उन्हें आज कोई नकार नहीं सकता। शावेज ने जब पहली बार सत्ता की बागडोर अपने हाथ में ली तब वेनेजुएला की स्थिति बहुत ही खराब थी। देश की अर्थव्यवस्था विश्व बैंक और अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष द्वारा संचालित थी और सभी कल्याणकारी योजनाओं पर रोक लगा दी गयी थी। सभी तरह की सबसिडी समाप्त कर दी गयी थी। वेनेजुएला में अन्तरराष्ट्रीय मुद्राकोष की नीतियाँ चरम पर पहुँच रही थी और इन नीतियों का सीधा असर गरीब तबकों, मजदूरों, किसानों पर पड़ रहा था। 1989 में इन्हीं नीतियों के चलते देश में जन आन्दोलन पैदा हुए और इसी विद्रोह के बीच ह्यूगो शावेज का नेतृत्व पैदा हुआ।

वेनेजुएला में 1999 में ह्यूगो शावेज के आने के बाद वहाँ की स्थिति जिसे खुद अमरीकी एजेन्सियों ने दर्शाया है।

1. अमीर-गरीब के बीच की खाई कम हुई है।
2. बेरोजगारी, जो 1999 में 14.5 प्रतिशत थी वह घटकर 2009 में केवल 7.6 प्रतिशत रह गयी। सीधे 50 प्रतिशत की कमी आयी।
3. प्रति व्यक्ति सकल घरेलू उत्पाद जो 1999 में चार हजार एक सौ चार डालर था। 2011 में यह दस हजार एक सौ एक डालर हो गया।
4. 1999 में 23 प्रतिशत आबादी गरीबी रेखा के नीचे जीवन यापन करती थी जो 2011 में घटकर 8.5 प्रतिशत रह गयी।

5. नवजात बच्चों की मृत्यु दर में भी भारी कमी आयी है। पहले 1999 में 1 हजार में 20 बच्चे मर जाते थे और 2011 में यह संख्या 13 रह गयी है।
6. 1999 से पहले जो शिक्षा, चिकित्सा, भोजन की व्यवस्था मुफ्त नहीं थी, शावेज ने सबसे पहले व्यापक समुदाय के लिए मुफ्त वितरण व्यवस्था लागू की।
7. 1999 के बाद गरीबी में 50 फीसदी और भीषण गरीबी में 70 फीसदी की कमी आयी है।
8. 2006 के हाइड्रो कानून के अनुसार अपने तेल पर वेनेजुएला का पूरा नियंत्रण है।
9. संयुक्त राष्ट्र संघ के अनुसार वेनेजुएला लातिन अमरीका में सबसे कम असमानता वाला देश है।
10. शावेज ने अमरीका के बाजार पर अपनी निर्भरता कम कर एशिया को तेल का निर्यात दोगुना कर दिया है।
11. वेनेजुएला आज साउदी अरब को पछाड़ कर तेल उत्पादन में पहले स्थान पर आ गया है।
12. वेनेजुएला सीरिया और ईरान जैसे देशों को परिशोधित कच्चा तेल भेजता है।
13. शावेज अमरीका के गरीबों को कड़के की ठंड से बचाने के लिये मुफ्त तेल देता है।
14. वेनेजुएला के पास दुनिया के कुल तेल का सर्वाधिक 18 प्रतिशत तेल का सुरक्षित भंडार है।

अमरीका की एजेन्सियों के द्वारा दर्शायी गयी वेनेजुएला की स्थिति को जानने के बाद क्या ह्यूगो शावेज को चुनकर वहाँ की जनता ने बेवकूफी का काम किया है? क्या वेनेजुएला की जनता यथार्थ की राजनीति नहीं जानती? क्या उसने देश के बजाय एक व्यक्ति निष्ठ फैसला किया है? दरअसल वेनेजुएला की जनता और ह्यूगो शावेज आज पूरे लातिन अमरीकी देशों के पथ प्रदर्शक हैं।

पिछले डेढ़ दशक से वेनेजुएला में शावेज का शासन है और इसी का नतीजा है कि आज दक्षिण अमरीका के अनेक देशों में ऐसी सरकारें हैं जो उदारवादी और नवउदारवादी आर्थिक नीतियों के खिलाफ हैं तथा एक हद तक समाजवादी अर्थव्यवस्था को अपना रही हैं। ब्राजील में लूला डिसिल्वा और इनके बाद डिल्मा रूसेफ जिसके लिए शावेज ने खुद चुनाव प्रचार किया, जो आज ब्राजील की राष्ट्रपति है। जो खुलकर अमरीकी नीतियों का विरोध करती हैं। बोलिविया में इवो मोरेलेस समाजवादी हैं और ट्रेड यूनियन कार्यकर्ता रहे हैं इवो मोरेलेस खुद किसान परिवार से हैं। उन्होंने अमरीका द्वारा बोलिविया में लागू किसान विरोधी नीतियों के खिलाफ लम्बे समय तक संघर्ष किया है। वे ह्यूगो शावेज और फिदेल कास्त्रो को अपना आदर्श मानते हैं। उरूग्वे में जोसे मुजिका भी समाजवादी

अर्थव्यवस्था को बढ़ावा देने में लगे हुए हैं। वे पूर्व छापामार योद्धा हैं। वह अपने वेतन का सिर्फ 10 प्रतिशत लेते हैं और 90 प्रतिशत एक धर्मार्थ संस्था को दान कर देते हैं। अर्जेन्टीना की राष्ट्रपति क्रिस्टिना किर्चनर जनहित की नीतियों को लागू कर रही हैं।

ह्यूगो शावेज ने विदेश नीति के मोर्चे पर लातिन अमरीका के राजनीतिक नक्शे को नया आकार देने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी है। अमरीका का एक समय पूरे लातिन अमरीका के क्षेत्र पर दबदबा था जिसे 1999 के बाद बहुत छोटे-छोटे क्षेत्रीय संगठनों जैसे, -सीईएल ने अमरीकी प्रभुत्व वाले समूह ओएएस को सीमित कर दिया है। 1999 में शावेज में लीबिया के गद्दाफी और ईराक के सद्दाम हुसैन के साथ मिलकर ओपेक को पश्चिमी देशों के चंगुल से मुक्त कराया। इससे ओपेक देशों की आर्थिक अर्थव्यवस्था काफी मजबूत हुई। साम्राज्यवाद विरोधी देशों के समूह एलबा के निर्माण में भी शावेज की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है।

अमरीका, लातिन अमरीकी देशों में अपने कम होते प्रभाव और वेनेजुएला के ह्यूगो शावेज और क्यूबा के फिदेल कास्त्रो की विचारधारा के बढ़ते प्रभाव से खिन्न और बेचैन है। इसलिए हर हाल में शावेज को हराना चाहता था। अगर जीत का अन्तर थोड़ा भी अस्पष्ट रहता तो तख्ता पलट की भी योजना थी। यह खुलासा पूर्व अमरीकी राजदूत पैट्रिक डीडूडी ने विदेशी सम्बंधों की एक काउन्सिल के दस्तावेज में उद्घाटित किया कि अगर शावेज की जीत स्पष्ट होती है, तो उसके साथ समानहित के मुद्दों पर समझौतों की कोशिश की जाये और अगर अंतर जरा भी अस्पष्ट रहता है तो अन्तरराष्ट्रीय दबाव बनाकर उसकी सत्ता पलटने की कोशिश की जाय।

यही है अमरीकी साम्राज्यवाद का चरित्र, जो अपने हित के लिये किसी भी देश में साजिश रचकर उसका तख्ता पलट करके अपनी पिटू सरकार बनाता है। ताकि वहाँ के बाजार, जल, जंगल और जमीन का दोहन कर सके। इसी के कारण उन देशों की जनता गरीबी, भूखमरी और बदहाली की जिन्दगी जीने पर मजबूर होती है।

वेनेजुएला में शावेज की इस जीत ने एक बार फिर अमरीका की औकात बताते हुए दुनिया को यह दिखा दिया है कि साम्राज्यवाद से अलग भी रास्ते हैं। शावेज की जीत ने अमरीकी साम्राज्यवाद के ताबूत में कील ठोकने का काम किया है। वेनेजुएला में शावेज और वहाँ की जनता की जीत दुनियाभर की जनता के लिए खुशी की बात है। □

दुनिया का 'सबसे गरीब' राष्ट्रपति : जोसे मुजिका

-व्लादिमीर हर्नान्डेज

यह एक आम शिकायत है कि राजनीतिज्ञों की जीवनशैली उन लोगों से बिलकुल अलहदा होती है जो उन्हें चुनते हैं। लेकिन उरुग्वे में ऐसा नहीं है। यहाँ के राष्ट्रपति से मिलें- जो खेत में बने एक जर्जर मकान में रहते हैं और अपनी तनखाह का बड़ा हिस्सा दान कर देते हैं।

अपने कपड़े वे खुद ही धोकर घर के बाहर सूखाते हैं। पानी उनके अहाते में बने कुएँ से आता है, जहाँ घास-फूस फैली रहती है। सिर्फ दो पुलिस अधिकारी और एक तीन टांग वाला कुत्ता, मनुएला बाहर रखवाली करते हैं।

यह उरुग्वे के राष्ट्रपति, जोसे मुजिका का घर है जिनकी जीवनशैली दुनिया के दूसरे नेताओं से साफ तौर पर बिलकुल अलग है।

राष्ट्रपति मुजिका ने उस आरामदेह निवास को त्याग दिया जो उरुग्वे की

सरकार अपने नेताओं को उपलब्ध कराती है और उन्होंने राजधानी के बाहर मोंटेवीडियो में, धूलभरी सड़क पर स्थित, अपनी पत्नी के खेत में बने घर में रहने का विकल्प चुना।

राष्ट्रपति और उनकी पत्नी जमीन पर खुद खेती करते हुए, फूल उगाते हैं।

इस सीधी-सरल जीवनशैली और इस तथ्य ने कि मुजिका अपनी मासिक तनखाह का 90 फीसदी, यानी लगभग 12,000 डॉलर, परोपकार के लिये दान कर देते हैं, मुजिका पर दुनिया के सबसे गरीब राष्ट्रपति होने का तमगा लगा दिया है।

बगीचे में एक पुरानी कुर्सी पर अपने प्यारे कुत्ते मनुएला को तकिये की तरह बगल में लिटाकर बैठे, वे कहते हैं, "मैंने अपना

ज्यादातर जीवन इसी उतरह जिया है।"

"मेरे पास जो कुछ है, उससे मैं अच्छी तरह जी सकता हूँ।"

उनकी तनखाह एक औसत उरुग्वेवासी की मासिक आय लगभग 775 डॉलर के बराबर है। 2010 में, उनकी घोषित वार्षिक आय-उरुग्वे में अधिकारियों के लिये इसकी घोषणा करना

अनिवार्य है-1800 डॉलर थी, जो उनकी 1887 मॉडल फोल्क्सवेगन बीटल मोटर गाड़ी की कीमत है।

इस साल उन्होंने इस सम्पत्ति में अपनी पत्नी की आधी सम्पत्ति को भी शामिल कर लिया है, जिसमें जमीन, ट्रेक्टर और एक घर शामिल है। इसके कारण उनकी कुल सम्पत्ति बढ़कर 2,15,000 डॉलर हो गयी, जो अभी भी उप-राष्ट्रपति डनिलो एस्टोरी की घोषित सम्पत्ति का सिर्फ दो-तिहाई और मुजिका के पूर्ववर्ती राष्ट्रपति, तबारे वास्कुएज की सम्पत्ति से एक-तिहाई कम है।

2009 में निर्वाचित,

मुजिका ने 1960 और 1970 के दशक उरुग्वे के टुपामारोस गुरिल्ला के सदस्य के रूप में बिताये। यह क्यूबा की क्रांति से प्रेरित एक वामपंथी सशस्त्र संगठन था। उन्हें छह बार गोली लगी और उन्होंने 14 साल जेल में बिताये। उनके कारावास का ज्यादातर समय कठोर परिस्थितियों और एकांतवास में गुजरा, जब 1985 में उरुग्वे में जनतंत्र की बहाली हुई और उन्हें आजाद कर दिया गया, तब तक।

मुजिका कहते हैं, जेल में बिताये गये उन वर्षों के दौरान ही उन्हें जीवन के प्रति अपना नजरिया गढ़ने में मदद मिली।

वह कहते हैं। "मुझे 'सबसे गरीब राष्ट्रपति' कहा जाता है, परन्तु मैं गरीब महसूस नहीं करता। गरीब लोग वे हैं जो सिर्फ एक महँगी जीवनशैली को बनाये रखने के लिये काम करते हैं और हमेशा पहले

"हम पूरी दोपहरी टिकाऊ विकास के बारे में बातें करते रहे। आम आदमी को गरीबी से उबारने के बारे में बातें करते रहे।

"लेकिन हम क्या सोच रहे हैं? क्या हम अमीर देशों के विकास और उपभोग के मॉडल को अपनाना चाहते हैं? अब मैं आपसे पूछता हूँ- इस ग्रह का क्या होगा अगर अमरीकी महाद्वीप के हर मूलनिवासियों के घर में उसी अनुपात में कारें होंगी जितनी जर्मनी वालों के पास हैं? तब हमारे पास कितनी आक्सीजन शेष बचेगी?

"क्या इस ग्रह के पास इतने पर्याप्त संसाधन है कि सात या आठ अरब लोग उसी स्तर पर उपभोग और फिजूलखर्ची कर सकें, जैसा कि आज हम अमीर समाजों में देखते हैं? यह अत्याधिक-उपभोग का स्तर है जो हमारे ग्रह को हानि पहुँचा रहा है।"

से ज्यादा हासिल करना चाहते हैं,” ।

उनका मानना है कि “यह आजादी का मामला है। अगर आपके पास बहुत ज्यादा सम्पत्ति नहीं है, तब आपको उसे बनाये रखने के लिये एक गुलाम की तरह सारी उम्र काम करने की जरूरत नहीं है और इस तरह आपके पास अपने लिये ज्यादा वक्त होता है।”

“मैं एक पागल और सनकी बूढ़ा आदमी लग सकता हूँ। लेकिन यह एक अपनी मर्जी से चुना गया विकल्प है।”

उरूवे के इस नेता ने इस साल जून में सम्पन्न, रियो-20 सम्मेलन में दिये गये अपने व्याख्यान में भी इसी तरह की बात रखी- “हम पूरी दोपहरी टिकाऊ विकास के बारे में बातें करते रहे। आम आदमी को गरीबी से उबारने के बारे में बातें करते रहे।

“लेकिन हम क्या सोच रहे हैं? क्या हम अमीर देशों के विकास और उपभोग के मॉडल को अपनाना चाहते हैं? अब मैं आपसे पूछता हूँ- इस ग्रह का क्या होगा अगर अमरीकी महाद्वीप के हर मूलनिवासियों के घर में उसी अनुपात में कारें होंगी जितनी जर्मनी वालों के पास हैं? तब हमारे पास कितनी आक्सीजन शेष बचेगी?

“क्या इस ग्रह के पास इतने पर्याप्त संसाधन है कि सात या आठ अरब लोग उसी स्तर पर उपभोग और फिजूलखर्ची कर सकें, जैसा कि आज हम अमीर समाजों में देखते हैं? यह अत्याधिक-उपभोग का स्तर है जो हमारे ग्रह को हानि पहुँचा रहा है।”

मुजिका दुनिया के ज्यादातर नेताओं में “उपभोग के सहारे विकास हासिल करने के प्रति अंधा जूनून होने,” का इल्जाम लगाते हैं, “मानो इसका उल्टा हो, तो दुनिया का अन्त हो जायेगा।”

मुजिका अपने पूर्ववर्तियों की तरह एक विशाल आधिकारिक निवास में रह सकते थे। लेकिन शाकाहारी मुजिका और दूसरे नेताओं के बीच का अंतर भले ही कितना ज्यादा हो, वह अपने राजनीतिक जीवन में आने वाले उतार-चढ़ाव के मामले में उनसे ज्यादा सुरक्षित नहीं हैं।

इस सम्बन्ध में उरूवे के एक मतदान सर्वेक्षक इग्नासियो जुआस्नाबर कहते हैं- “क्योंकि जिस तरह वह रहते हैं उसकी वजह से बहुत से लोग राष्ट्रपति मुजिका से सहानुभूति रखते हैं। लेकिन इससे उनकी इस बात के लिए आलोचना रुक नहीं जाती कि उनकी सरकार कैसा काम कर रही है।” उरूवे के विपक्षी दल कहते हैं कि देश की हालिया आर्थिक समृद्धि के बावजूद स्वास्थ्य और शिक्षा के क्षेत्र में सार्वजनिक सेवाओं में बेहतर बदलाव नहीं आया है। शायद यही कारण है कि 2009 में चुनाव के बाद से पहली बार मुजिका की लोकप्रियता 50 फीसदी से भी नीचे गिर गयी है।

इस साल दो विवादित कार्यवाहियों के चलते उन्हें काफी आलोचना का सामना करना पड़ा। उरूवे की कांग्रेस ने हाल ही में एक बिल पास किया, जिसमें 12 हफ्तों तक के भ्रुण का गर्भपात कराना कानूनी रूप से वैध बना दिया गया है। अपने पूर्ववर्तियों के विपरीत, मुजिको ने इसे वीटो नहीं किया।

ऐसा करने बजाय, उन्होंने अपनी पत्नी के घर पर ही रुके रहने का विकल्प चुना।

वह भांग के उपभोग को कानूनी वैधता दिलाने की बहस का भी समर्थन कर रहे हैं, एक ऐसा बिल जो राष्ट्र को इसके व्यापार पर एकाधिकार भी दिला देगा।

वह कहते हैं, “भांग का उपभोग सबसे ज्यादा चिंता की बात नहीं है, नशीली दवाओं का व्यापार वास्तविक समस्या है,” ।

फिर भी, उन्हें अपनी लोकप्रियता की रेटिंग को लेकर ज्यादा चिंतित होने की आवश्यकता नहीं है। उरूवे के कानून के मुताबिक वह 2014 में फिर से चुनाव नहीं लड़ सकते। और चूँकि वे 77 साल के हैं, इसलिए शायद वे उससे पहले ही रिटायर हो जायेंगे।

जब वह रिटायर होंगे, तब वह राष्ट्र से मिलने वाली पेंशन के अधिकारी होंगे और दूसरे पूर्व राष्ट्रपतियों के विपरीत, उन्हें आय में होने वाली कमी का अभ्यस्त होने में ज्यादा परेशानी नहीं होगी।

टुपामारोस गुरिल्ला

प्रारम्भ में गरीब गन्ना कामगारों और विद्यार्थियों को मिलाकर इस वामपंथी गुरिल्ला दल का गठन किया गया।

इनका राजा टुपाक अमारू के नाम पर इसका नामकरण किया गया।

राजनीतिक अपहरण इनकी मुख्य रणनीति थी। 1971 में ब्रिटेन के राजदूत जिओफ्री जैक्सन को आठ महीने तक कैद में रखा।

1973 में राष्ट्रपति जुआन मारिया बोरडाबेरी के तख्तापलट के बाद इसे कुचल दिया गया।

मुजिका जेल जाने वाले कई विद्रोहियों में से एक थे, उन्होंने 14 साल सलाखों के पीछे बिताये। जब तक 1985 में सवैधानिक सरकार की वापसी हुई।

उन्होंने टुपामारोस को एक कानूनी राजनीतिक पार्टी में रूपांतरित करने में मुख्य भूमिका निभायी, जो फ्रंटे अम्प्लियो (व्यापक मोर्चे) गठबंधन में शामिल हो गया।

(बीबीसी न्यूज से साभार. अनुवाद- दिनेश पोसवाल)

□

सीधा-सादा सच

-फिलिप लवीन

मैंने डेढ़ डॉलर के छोटे लाल आलू खरीदे,
उन्हें घर ले गया, बिना छीले उन्हें उबाला
और तनिक मक्खन और नमक लगाकर
रात के खाने में खा गया।

फिर मैं शहर की सरहद पर सूखे पड़े खेतों में
घूमा, जून आधा बीत चुका था और
मेरे पैरों तले खूड़ों
में उजाला अभी बाकी था, और सिर पर
पहाड़ी शाहबलूतों पर
रात के लिए पखेरू जमा हो रहे थे,
कुछ पंछी यहाँ-वहाँ
चहचहा रहे थे, फिंच पक्षी
धूसर उजाले में अब अभी
फरटि मार रहे थे,

मुझे आलू बेचने वाली औरत पोलैंड की थी,
धूप का चश्मा और गुलाबी चकते वाली स्वेटर पहने
वह थी मानों मेरे बचपन से निकल कर आयी कोई
सड़क किनारे लगाये ठेले पर
अपने सारे फलों और सब्जियों के
बहुत अच्छे होने की तारीफ करती
और मुझे मलिन, कच्चे भुट्टे तक को
चखने का इसरार करती,
बताया कसम खाकर कि वे
सुदूर न्यू जर्सी से लाये गये थे।
“खाइये, खाइये”, वह बोली
“आप अगर न भी खाएँ तब भी मैं कहूँगी
कि आपने खाया है।” कुछ चीजें

आपको उम्र भर पता होती हैं।
वो इतनी सीधी और सच्ची होती हैं
कि उन्हें बिना किसी नफासत, मीटर
और काफिये के कहा जाना चाहिए

उन्हें टेबल पर नमकदानी, पानी के गिलास,
तस्वीर के फ्रेमों की परछाइयों
में जमा होते उजाले के अभाव के बगल में
बिछाया जाना चाहिए,

वे होनी चाहिए अनावृत्त और एकाकी,
उन्हें खड़ा होना चाहिए अपने दम पर।
मैं और मेरा दोस्त हेनरी
इस नतीजे पर पहुँचे थे 1965 में
जिसके बाद मैं दूर चला गया और
जिससे पहले उसने बेवफाई के लिए
अपने आप को और हम दोनों को
खत्म करना शुरू कर दिया।

जो मैं कह रहा हूँ क्या आप
उसे चख सकते हैं? यह प्याज है या आलू,
चुटकी भर सादा नमक,
बहुत सारा मक्खन पिघलता हुआ,
जाहिर है,
आपके गले में चिपका रह जाता है
उस सच की भाँति
जो आपने कभी नहीं कहा क्योंकि
उसके लिए वक्त कभी सही नहीं था।
वह रह जाता है वहाँ बकाया उम्र के लिए,
अनकहा,

बना उस मिट्टी से जिसे हम धरती कहते हैं
और उस धातु से जिसे नमक,
उस स्वरूप में जिसके लिए हमारे पास कोई शब्द नहीं
और आप उस पर जी जाते हैं।

-अनुवाद : भारतभूषण तिवारी

□